।।परमसद्गुरवे बाबाश्रीमस्तरामाय नमः।।

ॐ श्रीगणेशाय नमः

अथ श्रीगीतागुह्यम्

श्रीमद्भगवद्गीता अध्यात्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषदों का सार है। श्रीमद्भगवद्गीता से सम्बद्ध प्रसिद्ध श्लोक "सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।" - इस तथ्य का समर्थन करता है। इस श्लोक का अर्थ है :- सब उपनिषद् गायें हैं और भगवान् श्रीकृष्ण उन गायों को दोहने वाले हैं। उपनिषद्-रूपी गायों से जो गीतारूपी अमृततुल्य दूध प्राप्त होता है उसको पीने वाला सुन्दर बुद्धि से सम्पन्न वत्सरूपी अर्थात् बछड़े के रूप में अर्जुन है। इस प्रकार जो आध्यात्मिक सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित हुए हैं उनके सार का संग्रह बाबा श्रीमस्तरामजी ने अत्यन्त लघुरचना 'श्रीगीतागुह्यम्' में प्रस्तुत कर दिया है। यह गीताजी के सार का संग्रह हमारे सामने है, हमें उपलब्ध है, हमें याद है, हम प्रतिदिन श्रीगीतागुह्य का पाठ करते हैं परन्तु यह संस्कृत भाषा में है, अत्यन्त संक्षिप्त है तथा गम्भीर अर्थ से युक्त होने के कारण सामने होने पर भी इसमें निर्दिष्ट आध्यात्मिक सिद्धान्तों के साथ परिचय प्राप्त करना एक कठिन कार्य है। उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों को समझने के लिये एकाग्र चित्त से अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। उन सिद्धान्तों को आत्मसात् करके अपने जीवन में उतारना भी एक कठिन कार्य है। भले ही यह एक कठिन कार्य है परन्तु इसका आध्यात्मिक लाभ लेने के लिये हमें मन लगाकर परिश्रम करना ही चाहिये क्योंकि भगवत्कृपा प्राप्त करके अपने स्वरूप को पहचानने के लिये यह एक बहुत ही उपादेय तथा वाञ्छनीय कर्तव्य कर्म है। यह बात स्पष्ट है कि जीवन में उतारने के लिये 'श्रीगीतागुह्यम्' जैसी कृति को आत्मसात् करना बहुत ही आवश्यक है और उसे समझे बिना ऐसा करना संभव नहीं है। बाबाजी के द्वारा प्रवचन के रूप में दिया गया श्रीमद्भगवद्गीता का 'मस्तभाष्य' उपलब्ध है और 'श्रीगीतागुह्यम्' में गीताजी का सार संगृहीत है। इन दोनों का परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण अध्ययन करके 'श्रीगीतागुह्यम्' की यह संवर्धित व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। यहाँ यह कहना भी युक्तिसंगत लगता है कि 'श्रीगीतागुह्यम्' की पुष्पिका में स्पष्ट रूप से यह उल्लिखित है कि श्रीमद्भगवद्गीतारूपी पारिजातपुष्पवाटिका से साररूप मधु प्राप्त करके भगवान् श्रीकृष्ण को अर्पित किया गया है। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य को आलम्बन बनाते हुए 'श्रीगीतागुह्यम्' की व्याख्या में सरलता के साथ उपयोगिता भी बनी रहेगी।

यद्यपि पूर्व प्रकाशित 'अध्यात्मसुधा' में 'श्रीगीतागुह्यम्' का अनुवाद कर दिया गया था। फिर भी अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण तथा कई स्थलों पर अर्थ की संगति के अभाव को देखते हुए व्याख्या करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर जब श्रीगीतागुह्य की व्याख्या का विचार मन में उदित हुआ तब मैंने बाबा श्रीमस्तरामजी से प्रार्थना की कि वे अपनी कृपा बनाये रखें ताकि मैं इस कार्य को करने में सफल हो सकूँ। कठिन स्थलों को स्पष्ट करने की योग्यता का आशीर्वाद भी देते रहें। विनम्र भाव से यह बात बाबाजी के श्रद्धालु भक्तों से निवेदन करना चाहता हूँ कि 'बाबा श्रीमस्तरामजी की जीवनरूपरेखा तथा उनके आध्यात्मिक सिद्धान्त' का नानी माँ के साथ हिन्दी में अनुवाद करने के पश्चात् मैंने आदिशंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य द्वारा रचित अद्वैतदर्शन के एक कठिन ग्रन्थ 'नैष्कर्म्यसिद्धि' की हिन्दी में व्याख्या प्रारम्भ कर दी थी। परन्तु 'अध्यात्मसुधा' के सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रेरणा के जागृत हो जाने पर मैंने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' की हिन्दी व्याख्या को स्थगित कर दिया। बाबाजी के श्रीचरणों में पुनः-पुनः यह निवेदन करता हूँ कि इस कार्य को सम्पन्न करने में वे मुझ पर अपनी दयादृष्टि बनाए रखेंगे। इस विनम्र भाव से मैं प्रस्तुत कार्य प्रारम्भ कर रहा हूँ और उनसे बारम्बार यह प्रार्थना भी करता हूँ कि वे हम सब भक्तों को यह सामर्थ्य प्रदान करें कि हम उनके द्वारा बताए हुए तथा उनके जीवन जीने के तरीके में दिखाई देने वाले वैराग्यपूर्ण आध्यात्मिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने में सफल हो सकें। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बाबाजी जैसी महाविभूतियों के आविर्भाव का यही प्रयोजन होता है कि हम जैसे संसार में आसक्त तथा लिप्त व्यक्ति उनके उपदेशों तथा उनकी अत्यन्त वैराग्यमयी जीवन की पद्धति को देखकर तथा समझ कर अपने आप को समझा-बुझाकर ऐसे मार्ग पर चलने का प्रयास करें जिस पर चल कर हम बाबाजी की कृपा प्राप्त करके अपने स्वरूप का बोध प्राप्त करने के योग्य बन सकें।

बाबा श्रीमस्तरामजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य में आरम्भ के लगभग 40 पृष्ठों मे श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में वर्णित अर्जुन के विषाद का बहुत सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है। धर्मक्षेत्र तथा कुरुक्षेत्र को कितने सरल तरीके से समझाया है : जिसमें धर्म किया जाये उसे धर्मक्षेत्र कहते हैं और जिसमें शुभ कर्म किया जाये उसे कुरुक्षेत्र कहते हैं (मस्तभाष्य, पृष्ठ 5)। वे कहते हैं कि गीताजी का महत्त्व इस बात से भी ज्ञात होता है कि धृतराष्ट्र जैसे मोहग्रस्त व्यक्ति ने भी अन्त में तपस्या करते हुए ही अपना शरीर छोड़ा था। बाबाश्री ने विषाद का स्वरूप तथा उसका महत्त्व शिखरिणी छन्द में रचित श्लोक में प्रस्तुत किया है। वर्तनी की अशुद्धियों को ठीक करने के अनन्तर श्रीमस्तभाष्य के 36 वें पृष्ठ पर दिये गये श्लोक का परिष्कृत रूप यह है :

पृथापुत्रं रागान्नयनरहितं तं परिभवात्,
भयाद्विश्वं विष्वक् कुरुकुलकलङ्कं च कलुषात्।
विषादः संजातः प्रकृतिरतिक्षुब्धा[1] च सहसा,
यथा काचिन्माता प्रतिप्रसवपीडापरवशा[2]।।

स्वयं बाबाश्री ने श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य के पृष्ठ 36-7 पर इस श्लोक को इस प्रकार समझाया है: "पृथा का पुत्र जो कुन्तीपुत्र अर्जुन है उसको राग के कारण विषाद हुआ और नयनरहित जो धृतराष्ट्र है उसको भी विषाद हुआ परिभव से और सम्पूर्ण विश्व को भय से विषाद हुआ। जो युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे उनको भी भय से विषाद हुआ था कि युद्ध हो रहा है सब मारे जायेंगे और दुर्योधन को भी विषाद हुआ अपने ही पाप से। पापी को भय बना ही रहता कि कहीं मेरी हार न हो जाये, यह भी भय था। जैसे प्रसव के समय माता को पीड़ा होती है, वैसे ही सारी प्रकृति माता पीड़ावत् हो गई थी।.... अर्जुन का विषाद सात्त्विक, धृतराष्ट्र का विषाद राजसी, दुर्योधन का तामसी। ऐसे ही सारी प्रकृति क्षुब्ध हो गई क्योंकि प्रकृति माँ से गीताजी की उत्पत्ति हो रही है।"

श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य में बाबाजी कहते हैं कि जब ज्ञान की अग्नि प्रकट होने वाली होती है तब विषादरूपी धुआँ निकलता है। अर्जुन के विषाद की तुलना अरणिमन्थन से उठने वाले धुएं से की गई है जिसके एकदम बाद (विवेक-वैराग्यरूपी) अग्नि की उत्पत्ति होती है तथा इस विषाद की तुलना कीचड़ से भी की गई है जिससे बाबाश्री के अनुसार अनासक्तिरूपी कमल की उत्पत्ति हुई (म. भा. पृ. 22)। इसके अतिरिक्त विषाद की तुलना ऐसे बादल से भी की गई है जिसमें विवेकरूपी जल भरा हुआ (रहता) है (म. भा. पृ. 32)।

श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेशस्थल तथा समय को लेकर सामान्यतया कुछ बातें चर्चा का विषय बनी रहती हैं। जैसे युद्धभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को कर्तव्य कर्म करने के लिये उपदेश देना जबकि वहाँ युद्ध आरम्भ होने के कगार पर खड़ा है। इस प्रसंग में समय का भी उल्लेख हो जाता है कि इतना बड़ा उपदेश देना युद्धभूमि में कैसे संभव हुआ? दुर्योधन के द्वारा अन्यायपूर्ण ढंग से युद्ध के थोपे जाने पर भी अर्जुन का युद्धभूमि में युद्ध से विमुख होकर विषाद के वश में हो जाना और युद्ध न करने के लिये अनेक प्रकार की युक्तियाँ भगवान् के समक्ष रखना तथा युद्ध न करके भिक्षावृत्ति स्वीकार करने के लिये भी तैयार हो जाना - इत्यादि

बाबाजी के ही शिष्य स्वामी राधारमणजी ने शिखरिणी छन्द में मात्राओं की संगति इस प्रकार बिठाई है :
1. विषादः संजातः प्रकृतिरतिदुःखा च सहसा,
2. यथा काचिन्माता प्रसवबहुपीडापरवशा।

विषयों को लेकर जो भी विप्रतिपत्तियाँ उठती हैं श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य में बाबाजी ने उनका स्पष्टीकरण कर दिया है (म. भा. पृ. 36-39)।

यह तो अत्यन्त स्पष्ट है कि दुर्योधन का प्रगाढ़ लोभ युद्ध की बिसात बिछाने में एक बहुत बड़ा कारण था। परन्तु फिर भी पाँच गाँव न मिलने पर युद्धभूमि में खड़े होकर भिक्षावृत्ति को श्रेयस्कर मानना अर्जुन के क्षत्रिय स्वभाव के प्रतिकूल था। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इतने बड़े योद्धा का विषादग्रस्त हो जाना अज्ञान के दुष्प्रभाव की ओर संकेत करता है जो अज्ञान हम सबको जकड़े हुए है। अज्ञान के वशीभूत होकर ही युद्ध की विभीषका तथा उसके भयंकर परिणामों की ओर भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान आकृष्ट करके अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता था। उसके मन में यह चल रहा था कि युद्ध में योद्धाओं के मर जाने पर स्त्रियाँ विधवा हो जायेंगी और वर्णसंकर आदि दुष्प्रभावों के कारण सांस्कृतिक मूल्यों का हनन होगा और समाज की व्यवस्था भंग हो जायेगी जो एक संवेदनशील व्यक्ति के लिये हर दृष्टि से अत्यन्त दुःखदायी है। साथ ही साथ यह भाव भी मन में कौंध रहा था कि विजय प्राप्त होने पर जिनके साथ वह खुशी को बाँट कर बढ़ाता उन सबके न होने पर विजय की उपलब्धि निरर्थक और दुःखदायी हो जायेगी। भगवान् श्रीकृष्ण भली-भाँति जानते थे कि देह को आत्मा समझना (अविद्या) ही अर्जुन की इस मानसिक अवस्था का मूल कारण है। यहां यह स्पष्ट करना उपयोगी रहेगा कि जो वस्तु है उसमें किसी दूसरी वस्तु की प्रतीति होना अध्यास होता है। देह आत्मा नहीं है। देह को आत्मा समझना देहात्माध्यास है। यही अविद्या है। यह देहात्माध्यासरूपी अविद्या ही अर्जुन के मानसिक अवसाद का कारण बनी हुई है। आत्मा के स्वरूप को समझाने से पूर्व भगवान् अर्जुन को झकझोर रहे हैं :-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।। भ. गी. 2.2

"हे अर्जुन ! जिसका श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आचरण नहीं किया जाता है, जो स्वर्ग का विरोधी है तथा जो अपयश देने वाला है ऐसा मोह किस कारण से तुझमें उत्पन्न हो गया है?" (देखें मस्तभाष्य, पृ. 48-53)

साथ ही यह भी समझाया कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के अभाव में इतनी बड़ी-बड़ी बातें करना उसे शोभा नहीं देता क्योंकि व्यावहारिक स्तर की बातों को लेकर भी ऐसी बातें करना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि ये बातें परस्पर विरोधी हैं। पण्डित न होते हुए पण्डितों जैसी बातें करना इस विरोध की ओर संकेत करता है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ऐसी भ्रामक तथा पेचीदगी

से भरी परिस्थिति में कर्तव्य कर्म को पहचानना बहुत कठिन हो जाता है। कर्तव्य कर्म की पहचान न होने पर व्यक्ति कुछ भी करने के लिये तैयार हो जाता है चाहे वह शास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वथा अनुचित ही हो। संभवतः इन बातों को ध्यान में रखते हुए तथा अज्ञान के दुर्दम्य प्रभाव की ओर हम सबका ध्यान आकृष्ट करने के लिये बाबाश्री ने श्रीगीतागुह्य का यह प्रथम पद्य प्रस्तुत किया है :-

प्रज्ञावादान् निराकृत्य गीतागुह्यं प्रगृह्यताम्।
नैव नाशो निवासो वा कस्यचिदिति निश्चितम्।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — प्रज्ञावादान् = बुद्धिमत्ता की बातों को, निराकृत्य = छोड़कर, गीतागुह्यम् = गीता के सार को, प्रगृह्यताम् = अच्छी तरह ग्रहण करना चाहिये, कस्यचित् = किसी का भी अर्थात् आत्मा का या शरीर का, नाशः = नाश, वा = या, निवास = सत्ता में रहना, न = नहीं, एव = ही (है), इति = ऐसा, निश्चितम् = निश्चित है।

अनुवाद :- विद्वत्ता की बातें छोड़कर गीता के सार को अच्छी तरह ग्रहण करना चाहिये। यह निश्चित है कि किसी का नाश नहीं होता अर्थात् आत्मा का कभी नाश नहीं होता। शरीर का निवास अर्थात् नश्वर होने के कारण उसका सदा बने रहना संभव नहीं है। (अभिप्राय यह है कि बुद्धिविलास छोड़कर गीताजी के सार को ग्रहण करके शरीर तथा मन को नित्य आत्मा के अनुसंधान में लगा देना चाहिये)।

व्याख्या :- युद्ध न करने के लिये जो युक्तियाँ अर्जुन के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष प्रस्तुत की जा रही थीं वे देहात्माध्यास से उत्पन्न हुई थीं क्योंकि युद्धभूमि में अपने सगे सम्बन्धियों को देखकर जब अर्जुन की कल्पना में यह आ रहा था कि युद्ध के होने पर तथा उसमें विजय प्राप्त होने पर सामने दिखाई देने वाले सगे सम्बन्धी मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे और अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक आपदायें घटित होंगीं। व्यावहारिक स्तर पर होने वाली मृत्यु से सम्बन्धित इन घटनाओं से व्यक्ति का मन अत्यधिक प्रभावित होता है क्योंकि वह अज्ञानवश इन सबको सत्य समझता है। ऐसा समझना शरीर में आत्माध्यास के कारण ही होता है। इस देहात्माध्यासरूपी तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अपना उपदेश निम्न श्लोक से प्रारम्भ किया :-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। भ. गी. 2.11

अर्जुन तुम उनको शोक का विषय बना रहे हो जो शोक करने योग्य नहीं हैं क्योंकि ये वास्तव में आत्मस्वरूप होने के कारण नित्य हैं। मरेगा तो केवल

उनका शरीर ही और तुम सोच रहे हो कि इनके बिना मैं राज्य-सुखादि का क्या करूँगा? पण्डित लोग शरीर को अनित्य तथा आत्मा को नित्य समझते हैं। नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने पर बुद्धिमान् लोग शोक नहीं करते। तुम शोक कर रहे हो जिसके कारण विषाद में डूबे जा रहे हो और इस पर भी बुद्धिमानों के से वचन बोल रहे हो। ये दोनों विपरीत बातें हैं (म. भा. पृ. 70)। श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक में 'प्रज्ञावादान्' शब्द आया है और वही शब्द गीतागुह्य के प्रथम श्लोक में भी आया है। 'प्रज्ञा' का अर्थ बुद्धि होता है। 'वाद' का अर्थ वचन होता है। विद्या के अभाव में अविद्या के दुष्प्रभाव के कारण प्रज्ञा वाले लोगों के समान वचन बोलना प्रज्ञावाद है। बाबाजी के अनुसार जो पंडित नहीं है पर पंडितों जैसी बात करता है उसे प्रज्ञावादी कहते हैं (म. भा. पृ. 68)। प्रज्ञावाद का अर्थ है आत्मज्ञान अथवा विद्वत्ता छाँटना (सद्गुरुवाणी, पृ० 88-89)। भगवान् अर्जुन को प्रज्ञावादी कह रहे हैं क्योंकि वह धर्म के गूढ़ तत्त्व को बिना समझे तथा आत्मा के रहस्य को बिना समझे ऊपर-ऊपर की बातें कर रहा है। अर्जुन की ऐसी स्थिति नहीं है कि वह पंडितों के समान बातें बना कर युद्ध से विमुख होने को सही ठहराये। इसलिये अर्जुन को इस प्रकार के वाग्व्यवहार से बचना चाहिये और गीताजी के सारभूत अर्थ को आत्मसात् कर लेना चाहिये ताकि प्रस्तुत स्थिति में वह युद्ध की अनिवार्यता के प्रति आश्वस्त (convinced) हो जाये। श्रीमद्भगवद्गीता का सार यह है कि आत्मा नित्य है, आत्मा से अतिरिक्त शेष सब अनित्य है - यदि अर्जुन इस सत्य को आत्मसात् करके युद्ध के विषय में विचार करता है तो उसे यह समझ में आ जायेगा कि न्यायोचित युद्ध भी स्वीकार्य होता है क्योंकि धर्म्य युद्ध स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है (भ. गी. 2.32)।

मूर्खता तथा बुद्धिमत्ता का एक साथ होना संभव नहीं है अर्थात् मूढ़ता तथा पाण्डित्य कदापि एक साथ नहीं रहते। हाँ, आत्मा की नित्यता का वास्तविक रूप से ज्ञान होने पर कोई भी अर्जुन के समान बातें नहीं करेगा। श्रीगीतागुह्य के प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति का यह अर्थ है कि बिना आत्मसात् की हुई बुद्धिमानों की बातों का युक्ति के रूप में उपयोग करना उचित नहीं है। इसलिये इस स्थिति से बचते हुए पहले हमें गीतागुह्य अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता के सार अर्थात् आत्मा की नित्यता को भली-भाँति समझ लेना चाहिये। श्लोक की अग्रिम पंक्ति में यह बताया गया है कि शरीर का कभी निवास नहीं होता अर्थात् शरीर नश्वर है, यह सदा बना नहीं रहता। हमारे पूर्वज अब नहीं हैं और हम भी नहीं रहेंगे परन्तु आत्मा का कभी भी नाश नहीं होता है। आत्मा तो त्रिकालाबाधित सत्य है अर्थात् आत्मा का किसी भी काल में बाध नहीं होता। दूसरे शब्दों में आत्मा की सत्ता सदा ही बनी रहती है। जहाँ तक भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य आदि की बात है जिनके युद्ध में मारे जाने की चिन्ता अर्जुन को हो रही है, वे सब तो श्रीमद्भगवद्गीता के

एकादश अध्याय में वर्णित विराट्-स्वरूप के चित्रण में मृत्यु को प्राप्त होते हुए प्रदर्शित किये गये हैं और भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को यह कहा गया कि वह उनका अन्त करने में केवल निमित्त बनें। इस प्रकार दुर्योधन के द्वारा पाण्डवों की हक़ की सम्पत्ति छीने जाने पर जो युद्ध न्यायतः प्राप्त हुआ है उस युद्धरूपी कर्तव्य कर्म के प्रति अर्जुन को तैयार करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उससे कहते हैं - हे अर्जुन! तुम्हें भीष्म पितामह आदि के नाश की चिन्ता करके न्यायोचित युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिये क्योंकि यदि आत्मा की दृष्टि से देखते हो तो इनका नाश हो नहीं सकता और यदि इनको देहबुद्धि से देखते हो तो इनमें से किसी का निवास सदा के लिये रह ही नहीं सकता (म. भा. पृ. 70-71)। दूसरे शब्दों में आत्मभाव से नाश नहीं है, जगत् भाव से निवास नहीं है (म. भा. पृ. 71)।

आत्मा सत् तत्त्व है, असत् जगत् भाव है। इसी जगत्-भाव को इन्द्रियाँ देखती हैं क्योंकि ये बहिर्मुखी हैं और बाह्य पदार्थ देख सकती हैं। असत् का बाध[3] हो जाने पर केवल सत् रह जाता है, यह निश्चित सिद्धान्त है। एक ओर आत्मा में रति और दूसरी ओर जगत् से विरति - यही गीताजी का मूल सिद्धान्त है (म. भा. पृ. 72)।

आत्मा की नित्यता का ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति में व्यावहारिक स्तर पर शास्त्रसम्मत कर्तव्य कर्म करने के प्रति कर्तव्यबुद्धि उत्पन्न होती है और वह कर्तव्य कर्म के प्रति सजग होकर पूरे मनोयोग से उस कर्म को करने के लिये उद्यत हो जाता है। आत्मा की नित्यता का ज्ञान होने पर कर्तव्य कर्म के प्रति सजग होने पर कर्म करने में निष्काम भाव की संभावना बन जाती है। निष्काम भाव तथा कर्तव्यबुद्धि से कर्म करना श्रीमद्भगवद्गीता का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश है जिसे निष्काम कर्मयोग के रूप में जाना जाता है। बाबाश्री इसका समर्थन करते हैं जब वे यह कहते हैं कि 'बिना ज्ञान के भक्ति और निष्कामता नहीं आती' (म. भा. पृ. 74)। इच्छा, लोभ तथा क्रोध त्रिक के मूल में इच्छा की सत्ता होती है। यदि हम कर्म के फल की इच्छा से प्रभावित नहीं होते हैं अर्थात् बिना कर्मफल की इच्छा के कर्म करते हैं तो इस बात की संभावना दृढ़ हो जाती है कि कर्तव्य कर्म करते हुए कर्म को ठीक ढंग से सम्पादन करने में जो कौशल चाहिये उसके प्रति हम सजग रहें। यज्ञभाव से क्रिया करने में कौशल के प्रति ध्यान रखने का यही अभिप्राय है। इससे निष्काम कर्मयोग की संभावना दृढ़ हो जाती है।

प्रथम श्लोक की दूसरी पंक्ति 'नैव नाशो निवासो वा कस्यचिदिति निश्चितम्' का अर्थ दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है जिसकी संगति श्रीगीतागुह्य के द्वितीय श्लोक के चतुर्थ चरण 'जन्म मृत्युर्न तत्त्वतः' से भली-भाँति बैठ जाती है। हम

3. 'बोध'शब्द के स्थान पर 'बाध' शब्द होना चाहिये जैसे सर्प का बाध हो जाने पर केवल रस्सी ही रह जाती है। मस्तभाष्य में मुझे वर्तनी की अशुद्धि प्रतीत होती है।

सायंकाल के मन्द प्रकाश में रस्सी को भ्रम से सर्प समझ लेते हैं और ठीक-ठाक प्रकाश के हो जाने पर रस्सी को सही ढंग से पहचान कर सर्प के भ्रम से मुक्त हो जाते हैं। यदि बाद में इस भ्रम के विषय में कोई हमसे पूछता है तो हम उसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जो हमें सर्प दिखाई दिया था वह रस्सी ही थी। ठीक इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने पर ज्ञानी को यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही प्रतीत होता है जैसे सर्प के भ्रम से मुक्त होकर भ्रम का अनुभव करने वाले व्यक्ति ने कहा था कि सर्प रस्सी ही था। इस प्रक्रिया को शास्त्र में 'बाधायाम् सामानाधिकरण्यम्' के रूप में जाना जाता है। बाबाश्री ने भी 'आत्मचिन्तनम्' के इक्कीसवें श्लोक में यह कहा है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर यह जगत् 'लघुरूप' वाला हो जाता है। 'लघुरूप' शब्द से जगत् का बाध उपलक्षित है। प्रकाश होने पर रस्सी का ज्ञान होने पर सर्प की प्रतीति बाधित हो गई थी। तब हमने कहा था कि सर्प ही रस्सी है। इसी प्रकार ब्रह्मानुभव के अनन्तर संसार का बाध होने जाने पर साक्षात्कार सम्पन्न व्यक्ति कह सकता है कि यह जगत् ही ब्रह्म है, आत्मा है। इस प्रकार यदि जगत् ब्रह्म मान लिया जाता है तो जगत् में किसी का निवास (जन्म) तथा नाश (मृत्यु) संभव ही नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म के संदर्भ में 'जन्म मृत्युर्न तत्त्वतः' का इस प्रकार अर्थ करना युक्तिसंगत हो जाता है। श्रीमस्तभाष्य के पृष्ठ 97 पर बाबाश्री के द्वारा भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है: "तात्त्विक दृष्टि से जन्म-मरण नहीं है; व्यवहार दृष्टि से जन्म-मरण कहा जाता है। आत्मा प्रकृति से असंग है, अतः इसका जन्म-मरण नहीं होता। शरीर आदि भौतिक होने से मरते हैं; आत्मा में भौतिकता है ही नहीं, इसलिये (यह) मरता नहीं है। जो जन्मता नहीं वह मरता भी नहीं है - यह निश्चित है। आत्मा सत् है, सदा एक रस रहता है। शरीर आदि का जन्म देखा जाता है, आत्मा का नहीं।" मस्तभाष्य के पृष्ठ 98 पर बाबाश्री का कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है: "अज्ञानी को जगत् प्रतीत होता है। ज्ञानी के लिये मानो भवसागर सूख ही जाता है, मृगतृष्णा उनको नहीं दीखती। जिसको जगत् ही नहीं दीखता उसे जन्म-मरण भी नहीं दीख सकता।"

म्रियमाणं हि को रक्षेत् कोऽवध्यं हन्तुमर्हति।
असदसद्धि सत्सच्च जन्म मृत्युर्न तत्त्वतः।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — कः = कौन, हि = वाक्यपूरक, म्रियमाणम् = मरते हुए को अर्थात् नश्वर शरीर आदि को, रक्षेत् = बचा सकता है, कः = कौन, अवध्यम् = जिसको मारा नहीं जा सकता उसको (नित्य आत्मा को), हन्तुम् = मार, अर्हति = सकता है। असत् = आत्मा से भिन्न जगत् आदि, असत् = सदा न रहने वाले, च = और, सत् = आत्मा, सत् = नित्य, हि = निश्चित, जन्म = उत्पत्ति, मृत्युः = मौत, तत्त्वतः = वास्तव में, न = नहीं (हैं)।

अनु० :- जो मरने वाला है उसकी अर्थात् नाशवान् शरीर की कौन रक्षा कर सकता है? अवध्य अर्थात् अनश्वर, नित्य आत्मा को कौन मार सकता है? अभिप्राय यह है कि शरीर को कोई बचा नहीं सकता और नित्य आत्मा का कोई नाश नहीं कर सकता। असत् असत् ही रहता है और सत् सत् ही रहता है। आत्मा सत् है, वह असत् नहीं हो सकता अर्थात् उसका कभी अभाव नहीं हो सकता और जगत् कभी सत् नहीं हो सकता अर्थात् तीनों कालों में उसकी सत्ता नहीं होती। जन्म तथा मृत्यु वास्तव में होते ही नहीं है क्योंकि सनातन तत्त्व तो एक आत्मा ही है उसके प्रसंग में जन्म तथा मृत्यु का उल्लेख निरर्थक है।।2।।

व्या० :- श्रीगीतागुह्य के द्वितीय श्लोक में भी आत्मा तथा आत्मा से भिन्न शरीर आदि को विषय बनाया गया है। शरीर नाशवान् है। युद्धभूमि में विद्यमान भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, अन्य सभी सगे-सम्बन्धी शरीर के रूप में उपस्थित हैं और नश्वर शरीर की रक्षा कैसे की जा सकती है जिसको लेकर तुम इतने चिन्तित हो? शरीर से भिन्न आत्मा नित्य है, वह अवध्य है। भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि तुम सत् का ही चिन्तन करो। तत्त्वदर्शियों ने असत्-सत् दोनों का विवेचनात्मक अन्वेषण किया है और सत् को अविनाशी और आनन्दरूप पाया, असत् को अर्थात् शरीर को अन्त वाला पाया। ये मेरा-तेरा रूप पिता, पुत्र, धन, मकान, शरीर आदि भाव सब अन्त वाले हैं और जो शरीरी है, जिससे देह व्याप्त है वह सत्-रूप से रहता है (म. भा. पृ. 90)। उसका किसी भी स्थिति में किसी भी प्रकार से नाश नहीं किया जा सकता। श्रीगीतागुह्य के प्रथम दोनों श्लोकों में नित्य तथा अनित्य के विवेक पर बल दिया गया क्योंकि अर्जुन इस विवेक के अभाव में ही कर्तव्य कर्म करने से पलायन कर रहा है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के योग्य बनने के लिये साधनचतुष्टय से सम्पन्न होना आवश्यक है जिसमें सर्वप्रथम नित्यानित्यविवेक आता है। इसके अनन्तर वैराग्य, साधनसंपत् तथा मुमुक्षुत्व आते हैं। साधनचतुष्टय के प्रथम घटक विवेक की अनिवार्यता स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत श्लोक की दूसरी पंक्ति में सत् तथा असत् की चर्चा है। इसको समझने का प्रयास करते हैं : व्यवहार में सामान्यतया जब हम 'सत्य' शब्द का प्रयोग करते हैं तब उससे तीन प्रकार के सत्य समझे जाते हैं। 1. पारमार्थिक सत्य, 2. व्यावहारिक सत्य तथा 3. प्रातिभासिक सत्य। इन तीनों के क्रमशः उदाहरण ये हैं :- 1. आत्मा या ब्रह्म पारमार्थिक सत्य या सत् है। यह तीनों कालों में विद्यमान रहने वाला तत्त्व है। 2. दृश्यमान जगत् तथा उसमें होने वाली समस्त आने जाने वाली घटनायें व्यावहारिक सत्य हैं। अद्वैतदर्शन में व्यावहारिक सत्य को मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय कहा जाता है क्योंकि यह ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर

आरोपित है जैसे रस्सी पर सर्प का, सीप पर चाँदी का आरोप हो जाता है। आत्मज्ञान होने तक इनकी सत्ता की प्रामाणिकता बनी रहती है। आत्मा के साक्षात्कार होने के अनन्तर सकल दृश्यमान जगत् लघुरूप हो जाता है जैसा कि बाबाश्री ने आत्मचिन्तन के 21वें श्लोक में कहा है। सामान्यतया आत्मज्ञान होने के अनन्तर शास्त्रों में जगत् की तुलना हाथ में रखे हुए आँवले से की जाती है अर्थात् साक्षात्कारसंपन्न व्यक्ति के लिये यह संसार हथेली पर रखे हुए आँवले के समान छोटे रूप वाला हो जाता है जिसका अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञानी के लिये जगत् की सत्ता के स्थान पर केवल ब्रह्म की सत्ता ही अनुभूति का विषय बनती है। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के सोलहवें श्लोक 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' की व्याख्या करते हुए श्रीशंकराचार्य शीतोष्णादि तथा उनके अनुभव को असत् (अनिर्वचनीय) बता कर कहते हैं कि उनका अस्तित्व प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि जो सकारण है और आने-जाने वाला है वह वास्तविक (पारमार्थिक) रूप से सत्य नहीं होता है। हाँ, ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर ही दृश्यमान जगत् का बाध होता है। इसलिये हमें चाहिये कि हम उनको सहन करने की क्षमता विकसित करें। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण के कथन '....तांस्तितिक्षस्व भारत' (भ. गी. 2. 14) का अभिप्राय है। बाबाश्री भी कहते हैं कि जो व्यक्ति शरीर के साथ होने वाले विषयों के सम्बन्धों को सहन कर लेता है वह अमृत का अधिकारी हो जाता है (म. भा. पृ. 75)। शास्त्रों का निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ न सत् कहा जा सकता है और न ही असत्। अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में इसे मिथ्या कहा गया है। मिथ्या का अर्थ झूठा नहीं होता जैसा कि व्यवहार में सामान्यतया समझा जाता है प्रत्युत मिथ्या का अर्थ 'अनिर्वचनीय' होता है। इसको स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह जानना भी उपयोगी रहेगा कि अद्वैतवेदान्त में भ्रम के विषय को भी अनिर्वचनीय कहा जाता है। भ्रम के विषय को भ्रमकाल में हम यह नहीं कह सकते है कि वह नहीं है क्योंकि भ्रमकाल में उसकी प्रतीति हो रही है और न ही हम यह कह सकते कि भ्रम का विषय सत्य है क्योंकि भ्रम के अधिष्ठान (जिसमें भ्रम हो रहा है उसका) का सही ज्ञान होने पर भ्रम नष्ट हो जाता है और भ्रम का विषय नदारद हो जाता है। संसार का भी वही स्वरूप है। रस्सी में सर्प के समान ब्रह्म में संसार आरोपित है। ब्रह्मानुभव के अनन्तर संसार वैसे ही बाधित हो जाता है जैसे रस्सी का वास्तविक ज्ञान होने पर सर्प का बाध हो जाता है 3. व्यावहारिक जगत् के मिथ्यात्व को समझाने के लिये सर्प, रजत आदि जो दृष्टान्त के रूप में बताये गये वे सब प्रातिभासिक सत्य के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त अलीक (सत्य) भी वन्ध्यापुत्र, आकाशपुष्पादि के रूप में जाना जाता है। आकाशपुष्प आदि शब्द तो हैं परन्तु इन शब्दों के ज्ञान के अनन्तर उन शब्दों

से प्रतीत होने वाला कोई पदार्थ नहीं है। जैसे हमने यदि 'पुस्तक' शब्द बोला तो 'पुस्तक' शब्द के ज्ञान के अनन्तर पुस्तक हमें सामने दिखाई देती है। परन्तु ऐसा 'वन्ध्यापुत्र' शब्द बोलने के बाद पुस्तक की तरह वन्ध्यापुत्र ज्ञान का विषय नहीं बनता। ऐसे सत्य को अलीक कहा जाता है अर्थात् जो किसी भी रूप में है ही नहीं वह अलीक है। विज्ञानवाद के संदर्भ में अक्सर इसका ज़िक्र होता है।

बाबाजी पारमार्थिक सत्य तथा व्यावहारिक सत्य में अन्तर समझने की बात किया करते थे। जब तक ज्ञान नहीं हो जाता तब तक व्यक्ति को व्यावहारिक सत्य को ध्यान में रखते हुए शास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट, सामाजिक नियम तथा क़ायदे-कानून वाले मार्ग पर चलना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को न्यायोचित कर्तव्य कर्म युद्ध के लिये तैयार करने के लिये आत्मा की नित्यता को समझा रहे हैं। प्रथम श्लोक में भी इसी तथ्य पर बल दिया गया था और प्रस्तुत श्लोक में भी आत्मा की सनातन सत्ता को समझा रहे हैं ताकि अर्जुन को द्रोणाचार्य आदि की मृत्यु के कारण जो विषाद् हो रहा है वह उससे मुक्त हो जाये और जो भी न्यायोचित कर्म है उसको करने में उसे किसी भी प्रकार की कोई झिझक न हो।

कर्तव्यश्चेद्धि कर्तव्यः संग्रामः स्वजनैरपि।
निष्पक्षो निर्ममो भूत्वा न्यायाधीशासनस्थवत्।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — चेत् = यदि, कर्तव्यः = कर्तव्य कर्म (है), (तो) हि = निश्चित रूप से, न्यायाधीशासनस्थवत् = न्यायाधीश के आसन पर बैठे हुए व्यक्ति के समान, निष्पक्षः = पक्षपातरहित, निर्ममः = ममतारहित, भूत्वा = होकर, स्वजनैः = अपने सम्बन्धियों से, अपि = भी, संग्रामः = युद्ध, कर्तव्यः = करना चाहिये।

अनु० :- कर्तव्य तो करना ही चाहिये। यदि अपने सम्बन्धियों से युद्ध करना कर्तव्य पक्ष में आता है तो अपने लोगों से भी संग्राम करने में हिचकिचाना नहीं चाहिए। आदर्श न्यायाधीश के द्वारा न्यायालय में किये जाने वाले न्याय से सम्बद्ध व्यवहार के समान हमें निष्पक्ष और ममतारहित होकर व्यवहार करना चाहिये।।3।।

व्या० :- महाभारत में एक ऐसे युद्ध का प्रसंग है जिसमें अपने सम्बन्धियों से ही युद्ध करने की स्थिति उपस्थित होती है। व्यक्ति अपनों के जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओं का निवारण करने के लिये दूसरों से लड़ता है। परन्तु यहाँ तो अपने भाई-बन्धुओं कौरवों से ही युद्ध करने की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

अपने निकट के सम्बन्धी के मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर हमें दुःख होता है। अट्ठारह अक्षौहिणी सेना वाले इतने विशाल युद्ध में जितने योद्धा अपने प्राणों का त्याग करेंगे उसकी कल्पना करना भी कठिन है। हाँ, यदि अपने सगे-सम्बन्धी अनीति का मार्ग अपना लें और युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दें तो कर्तव्यता की बुद्धि से युद्ध करने के लिये मानसिक स्पष्टता चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की मानसिक अस्पष्टता तथा किंकर्तव्यविमूढ़ता को दूर करने के लिये उसका ध्यान आत्मा की नित्यता की ओर आकृष्ट किया क्योंकि अर्जुन भीष्मपितामह, गुरु द्रोणाचार्य आदि को युद्धभूमि में अपने सम्मुख देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था क्योंकि उसके विचार में पितामह आदि पर बाण से आघात करना ठीक नहीं है क्योंकि वे अपने बड़े हैं, सम्बन्धी हैं, आदरणीय हैं जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक में व्यक्त किया गया है :-

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।। भ. गी. 2.4

"हे मधुसूदन ! मैं युद्धभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्मपितामह तथा गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध करूँगा क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही मेरे लिये पूजनीय हैं।"

अर्जुन अपने मानसिक विभ्रम और अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता को अगले पद्य में प्रकट कर रहा है :-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।। भ. गी. 2.6

"हम यह नहीं जानते हैं कि युद्ध करने और युद्ध न करने - इन दोनों विकल्पों में से हमारे लिये कौनसा विकल्प श्रेयस्कर है? अथवा इसका भी हमें ज्ञान नहीं है कि उन्हें हम जीतेंगे या वे हम पर विजय प्राप्त करेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते हैं वे हमारे अपने धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने युद्ध करने के लिये खड़े हुए हैं।"

इस प्रकार की अस्पष्टता का आक्रमण तभी होता है जब व्यक्ति तात्त्विक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होता है। इसी अनभिज्ञता के कारण, इस प्रकार के अज्ञान के कारण वह अपनी उन बातों को सही मानने लगता है जो ऊपरी तौर पर उसको ठीक लगती हैं, व्यवहार में जिनका प्रचलन अधिक होता है। उदाहरण के लिये ममता के कारण उसे इस बात का ध्यान नहीं आ रहा है कि भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि दुर्योधन के पक्ष में युद्ध करने के लिये तैनात हैं जिस दुर्योधन ने उनके अधिकार की भूमि, संपत्ति आदि का अन्यायपूर्ण तरीके से अधिग्रहण कर लिया था। शरीर की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता के विवेक का ज्ञान होने

पर शरीरों को देखकर अर्जुन के मन में जो ममत्व जाग रहा था वह उससे ऊपर उठ कर कर्तव्यताबुद्धि से युद्ध को करने के लिये उद्यत हो रहा है क्योंकि यह युद्ध दुर्योधन ने अत्यन्त कुरीतिपूर्ण ढंग से पाण्डवों पर थोपा है। भगवान् श्रीकृष्ण अग्रिम श्लोक में शरीर की नश्वरता अर्जुन को समझा रहे हैं:-

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।। भ. गी. 2. 13

"जैसे देही (आत्मा) के इस शरीर में बचपन, जवानी तथा बुढ़ापा घटित होता है वैसे ही जीवात्मा को अन्य देह की प्राप्ति होती है। इस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है।"

जब अर्जुन दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में शिष्यभाव से अत्यन्त विनम्रतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण से विनय करेगा तब वे उसको परम वाञ्छनीय उपदेश देंगे :-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

"कायरता के कारण मेरा स्वभाव डगमगा गया है तथा धर्म के विषय में मुझे मतिभ्रम हो रहा है। इसलिये मैं आपसे पूछता हूँ जो निश्चितरूप से मेरे लिये कल्याणकारी हो वह मुझे बताइये। आपकी शरण में आए हुए इस शिष्य को शिक्षा दीजिये।"

श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय के 34वें श्लोक में भगवान् के द्वारा बताए गये ढंग से ही अर्जुन ने श्रीकृष्ण से स्वयं को शिक्षा देने की प्रार्थना की :-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

"दण्डवत् प्रणाम करके, सेवा भाव से तथा सरलतापूर्वक प्रश्न करने पर तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुमको तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे।"

अर्जुन के द्वारा विनम्रतापूर्वक प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मतत्त्व के स्वरूप का उपदेश दिया जिसके श्रवण के अनन्तर आत्मा की नित्यता तथा उपाधिरूप शरीर की अनित्यता के चिन्तन के परिणामस्वरूप कर्तव्यताबुद्धि के जागृत होने पर व्यक्ति कर्तव्यकर्म करने की ओर प्रेरित होता है। कर्तव्य कर्म के प्रति कर्तव्यताबुद्धि का क्या महत्त्व है? इस महत्त्व का ज्ञान कराते हुए बाबाश्री आदर्श न्यायाधीश का दृष्टान्त देकर हमें वैसे ही समझा रहे हैं जैसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विषाद की अवस्था से बाहर निकालने के लिये

आत्मा की नित्यता का ज्ञान करा कर सम्बन्धियों के मोह से मुक्त कर रहे हैं ताकि वह निष्पक्ष होकर युद्ध के विषय में विचार करे। न्यायसम्बन्धी आचारसंहिता के नियमों में आस्था रखने वाले न्यायाधीश अपने सम्बन्धियों के द्वारा किये गये अपराध के आधार पर बिना किसी भेद-भाव के पक्षपातरहित होकर अपने सम्बन्धियों के लिये भी दण्ड का प्रावधान करते हैं। ठीक इसी प्रकार न्यायाधीश के आचरण के समान एक मोहरहित विवेकी व्यक्ति कर्तव्य कर्म के प्रति अपने आचरण को पक्षपातरहित बनाये रखे जबकि उस कर्तव्य कर्म में यह स्पष्ट हो कि सम्बन्धियों की भूमिका अन्यायपूर्ण है। इस प्रकार के आचरण का अभ्यास होने पर व्यक्ति के जीवन में कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न ही नहीं होगी जिसमें उसे विषाद से ग्रस्त होने के कारण कर्तव्य से पराङ्मुख होना पड़े। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मानसिक अवसाद के कारण व्यक्ति में काम करने की तनिक भी इच्छा नहीं रहती। उसके हाथ पाँव फूल जाते हैं। अर्जुन की भी ऐसी स्थिति हो गई थी जैसे कि इन श्लोकों में वर्णित है :-

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।। भ. गी. 1.29
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। वही, 1.30.

"मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मेरा मुख सूखा जा रहा है। मेरे शरीर में कम्पन हो रहा है तथा रोंगटें खड़े हो रहे हैं। हाथ से गाण्डीव धनुष फिसल कर गिर रहा है। त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित हो रहा है। इसलिये मैं खड़ा होने में भी समर्थ नहीं हूँ।"

यदि चित्त मोहग्रस्त नहीं है और नित्यानित्य का विवेक होने के कारण स्पष्टता है तो ऐसी अवाञ्छनीय दुःखद स्थिति की कोई संभावना ही नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में कर्म किस प्रकार से करना चाहिये - इस प्रक्रिया को बाबाश्री अग्रिम श्लोक में बहुत ही अच्छे ढंग से समझा रहे हैं :

कौशलेन क्रिया कार्या यज्ञभावान्मुमुक्षुणा।
मायाचक्रं विवर्तेत मायाऽक्रियं वियोजयेत्।।4।।

अन्वय तथा अर्थ — मुमुक्षुणा = मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति के द्वारा, यज्ञभावात् = यज्ञ के भाव से, कौशलेन = कुशलतापूर्वक अर्थात् समत्वबुद्धि से, क्रिया = कर्म, कार्या = की जानी चाहिये, मायाचक्रम् = माया का चक्र (कार्य), विवर्तेत

= चलता ही रहता है, माया = प्रकृति, अक्रियम् = जो व्यक्ति कर्म से विमुख है उसको, वियोजयेत् = विशेष रूप से क्रिया में लगा देती है अर्थात् उसे निष्क्रिय नहीं बैठने देती।

अनु० :- मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को यज्ञ की भावना से युक्त होकर कुशलतापूर्वक अर्थात् समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्म करना चाहिये। मायाचक्र घूमता (ही) रहता है और जो व्यक्ति कर्म न करने में आसक्त होता है उसे माया विशेषरूप से कर्म में लगा देती है। (चतुर्थ चरण का यह भी अर्थ हो सकता है कि जो व्यक्ति नैष्कर्म्य अर्थात् ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो गया है उस व्यक्ति को माया अपने से पृथक् कर देती है, उसे अपने से मुक्त कर देती है)।।4।।

व्या० :- विषाद की स्थिति में व्यक्ति निष्क्रिय सा हो जाता है। एक स्थान पर पड़ा रहता है। हाथ-पैर सब शिथिल हो जाते हैं। शरीर के स्वास्थ्य को ठीक रखने वाली क्रियाएँ दुर्बल हो जाती हैं और उत्साह बढ़ाने वाले कैमिकल (serotonin) आदि कम हो जाते हैं। मनोदशा इतनी बिगड़ जाती है, इतनी असहनीय हो जाती है कि व्यक्ति में अपने आप को मारने तक का विचार आने लगता है। अर्जुन को भी यह ही अधिक कल्याणकारी लगता था कि धृतराष्ट्र के पुत्र निहत्थे उसको रण में मार दें।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।। भ. गी. 1. 46

"यदि सामना न करने वाले तथा शस्त्रहीन मुझको शस्त्र हाथ में लिये धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार दें तो मेरे लिये यह अधिक कल्याणकारी होगा।"

ऐसी दुरवस्था के समय यदि कोई बुद्धिमान् तथा विवेकी सत्पुरुष मिल जाता है तो यह विषादग्रस्त व्यक्ति के लिये बहुत ही बड़ा सहारा होता है। अर्जुन को ऐसी स्थिति से उबारने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण गीताजी का उपदेश देने के लिये युद्धभूमि में उपस्थित थे। बाबा श्रीमस्तरामजी ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता को अपने जीवन में जिया। उनका अत्यन्त वैराग्यपूर्ण जीवन निःसन्देह गीताजी के उपदेशों को चरितार्थ करता था। वे आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न महापुरुष थे। इसलिये उनके द्वारा जो सार की बातें उनकी रचनाओं में प्रतिपादित हैं वे निश्चित रूप से मोहमाया के कारण संसार में लिप्त व्यक्ति के लिये एक बहुत बड़ा सम्बल हैं। ऐसे सिद्ध पुरुषों का सांनिध्य या उनकी रचनाओं में प्रतिपादित सिद्धान्तों से अच्छा परिचय किसी अन्य प्रकार के सांसारिक सहयोग से निश्चित रूप से अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि उनकी ये रचनाएं उनके अनुभव से आविर्भूत हुई।

नित्यानित्य का विवेक होने पर कर्तव्यबुद्धि से कर्म करने की प्रेरणा पूर्व श्लोक में दी गई। अब इस श्लोक में कर्म का कैसे अनुष्ठान किया जाये - यह समझाते हैं। यज्ञ की भावना के अनुप्राणित होकर कर्म का कुशलतापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। कौशल का अर्थ है समत्वबुद्धि तो 'कौशलेन क्रिया कार्या' का अर्थ हुआ 'समत्वबुद्धि के साथ कर्म करना चाहिये'। कर्तव्य कर्म करते हुए इस बात पर ध्यान नहीं होना चाहिये कि सफलता मिलेगी या नहीं अर्थात् सिद्धि तथा असिद्धि दोनों अवस्थाओं के प्रति समभाव रखते हुए पूरे मन से कार्य करना समत्वबुद्धि से युक्त होकर कार्य करना ही कुशलतापूर्वक कर्म करना होता है। फल को ईश्वर को अर्पित करते हुए कार्य करना ही यज्ञभाव से कार्य करना है। इस प्रकार कर्मों का अनुष्ठान करने से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध होता है और वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है क्योंकि शुद्ध अन्तःकरण में ही ज्ञानोदय होता है। बाबाश्री का यह अभिप्राय इस श्लोक में प्रयुक्त 'मुमुक्षुणा' शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है।

दूसरी पंक्ति का अर्थ समझने के लिये विषाद की स्थिति वाले व्यक्ति की ऊपर बताई गई अवस्था को ध्यान में रखना युक्तिसंगत होगा। विषादग्रस्त व्यक्ति सब कुछ छोड़कर निष्क्रिय हो जाता है जैसे अर्जुन की होने वाली स्थिति गीताजी में वर्णित की गई है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि यह संभव नहीं है कि कोई भी व्यक्ति बिना कर्म के रह सके :-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। भ. गी. 3.5.

"कोई भी व्यक्ति कभी एक क्षण के लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि सभी प्राणी परवश होकर प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज तथा तम - इन तीन गुणों के द्वारा कर्म में प्रवृत्त कर ही दिये जाते हैं।"

ठीक उसी प्रकार बाबा श्रीमस्तरामजी प्रस्तुत श्लोक की अग्रिम पंक्ति में दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि माया का चक्र तो घूमता ही रहता है अर्थात् यह कभी भी रुकता नहीं है। इसीलिये कोई भी व्यक्ति भले ही यह निश्चय कर ले कि वह कोई भी काम नहीं करेगा, माया उस व्यक्ति को भी विशेष रूप से कर्म करने में लगा ही देती है। ऐसा ऊपर उद्धृत गीताजी के श्लोक में भी निर्दिष्ट किया गया है। 'वियोजयेत्' क्रियापद में 'वि' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। प्रायः इस क्रियापद का अर्थ होता है 'अलग करना'। इस अर्थ को ध्यान में रखकर ही कोष्ठक में इसी प्रकार से अनुवाद किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि माया अर्थात् प्रकृति पुरुष को भोग तथा अपवर्ग दोनों प्रदान करती है और जब व्यक्ति नैष्कर्म्य में प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है तब

प्रकृति ब्रह्मानुभव के अनन्तर साक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति को अपने से अलग कर देती है अर्थात् व्यक्ति को अज्ञान से मुक्त करके मोक्ष प्राप्त करा देती है। लेकिन श्रीमद्भगवद्गीता में जो प्रसंग चल रहा है उसके अनुरोध से 'वियोजयेत्' में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग का वियोग, पृथक् अर्थ न करके, 'विशेष रूप से' अर्थ किया गया है। इस प्रकार 'विशेषरूप से नियोजित कर देती है' - यह अर्थ कर लेना चाहिये। अनुवाद में प्रदत्त पहला अर्थ श्रीमद्भगवद्गीता के संदर्भ को ध्यान में रखकर किया गया है। यह युक्तिसंगत भी लगता है क्योंकि बाबाश्री भी यही कहते थे "माया अक्रिय को बलात् कर्म में लगा देगी, उसको कर्म तो करना ही होगा।"[4] यह विचार इस तथ्य से और भी समर्थित हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विस्तारपूर्वक कर्मयोग से परिचय कराते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के पहले छः अध्यायों में प्रधानतया कर्मयोग के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है।

जब मन का निग्रह करते हुए निष्काम कर्मयोग का उपदेश श्रीकृष्ण अर्जुन को दे रहे हैं तब अर्जुन उनसे विनयपूर्वक पूछता है कि मन का नियन्त्रण कैसे किया जाये क्योंकि यह तो अत्यन्त चंचल है और इसका निग्रह करना वायु को नियन्त्रित करने के समान कठिन है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रेमपूर्वक समझाते हैं :-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। भ. गी. 6.35

"हे महाबाहो ! निःसन्देह मन अत्यन्त चंचल है और बहुत ही मुश्किल से काबू में आने वाला है। फिर भी हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मन अभ्यास तथा वैराग्य से वश में आ जाता है।"

मन के शुद्ध हो जाने पर तथा उसके भली-भाँति वश में आ जाने पर व्यक्ति योग-मार्ग पर चलने का अधिकारी हो जाता है। परन्तु फिर भी उसे सफलता तथा असफलता की चिन्ता किये बिना विवेकपूर्वक परमात्मा की प्रसन्नता के लिये ही कर्म का अनुष्ठान करते रहना चाहिये। कुशलतापूर्वक यज्ञभाव से कर्म करने पर साधक मुक्ति का अधिकार प्राप्त कर लेता है क्योंकि इस प्रकार कर्म मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति का अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर जब साधना में व्यापृत व्यक्ति के मन में लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उत्कट इच्छा जग जाती है तब श्रीगीतागुह्य का अग्रिम श्लोक प्रासंगिक हो जाता है :-

योगो ज्ञानेन स्याद् युक्तो ज्ञानं योगेन संविशेत्।
भूर्भुवोवच्च सर्वत्र प्रश्नात् तयोर्व्यवस्थितिः।।5।।

4. श्रीरमेशचन्द पालीवाल के द्वारा भेजे गये गीतागुह्य के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत।

अन्वय तथा अर्थ — योगः = कर्मयोग, ज्ञानेन = ज्ञान के साथ, युक्तः = सम्बद्ध, स्यात् = होना चाहिये, योगेन = योग से, ज्ञानम् = ज्ञान में, संविशेत् = प्रवेश करना चाहिये, सर्वत्र = सब जगह, भूर्भुवोवच्च = भूमि तथा अन्तरिक्ष के समान, प्रश्नात् = सद्गुरु के समक्ष प्रश्न रखने से, तयोः = योग तथा ज्ञान दोनों का व्यवस्थितिः = समाधान हो जाता है।

अनु० :- कर्मयोग ज्ञान से युक्त होना चाहिये अर्थात् व्यक्ति को समझ तथा विवेक के साथ कर्म सम्पन्न करने चाहिये। विवेक से शास्त्रविहित कर्मों को करते हुए व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध होता है और वह ज्ञान का अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार कर्मयोग से वह ज्ञान में प्रवेश करता है। योग तथा ज्ञान की स्थिति पृथिवी तथा अन्तरिक्ष की तरह होती है अर्थात् जिस प्रकार अन्तरिक्ष पृथिवी पर टिका हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार ज्ञान भी सामान्यतया विवेकपूर्वक किये हुए शास्त्रविहित कर्मों पर आधारित होता है। यह गुरु अथवा साक्षात्कारसम्पन्न महापुरुष के समक्ष किये गये प्रश्न से व्यवस्थित होता है कि साधक कर्म के द्वारा परम्परा से मोक्ष का अधिकारी है अथवा सीधा ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस विषय में जब मुमुक्षु महापुरुष से प्रश्न करता है तब वे इसकी व्यवस्था करते हैं कि वह कर्ममार्ग के द्वारा अपने लक्ष्य को सिद्ध करे या सीधे ज्ञान पर चल कर परमपुरुषार्थ की प्राप्ति करे।

व्या० :- पहले प्रकाशित अध्यात्मसुधा से ही अनुवाद के अंश की लगभग पुनरावृत्ति की गई है परन्तु यह पद्य व्याख्यासापेक्ष है। योग तथा ज्ञान शब्दों के अर्थ क्या हैं? इसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता के 12वें अध्याय के 12वें श्लोक के माध्यम से इन शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करना उचित होगा। वह श्लोक यह है :-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।

"अभ्यास से ज्ञान निश्चित रूप से उत्कृष्ट है। ध्यान ज्ञान से बढ़कर है। ध्यान की तुलना में कर्म के फल का त्याग अधिक विशिष्ट है। कर्म के फल के (आत्यन्तिक) त्याग के अनन्तर शान्ति की प्राप्ति हो जाती है।"

गीताजी के प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान का अर्थ हैः आप्त पुरुष से आत्मा के अस्तित्व के श्रवण के पश्चात् युक्तियों के द्वारा आत्मा की सत्ता का निश्चय हो जाना। यह बौद्धिक ज्ञान है, आनुभविक नहीं। आत्मा को जानने के लिये जो हम पुनः-पुनः आप्तपुरुष से आत्मा के विषय में सुनते हैं अर्थात् सुनने का अभ्यास करते हैं उस श्रवण से युक्तियों द्वारा आत्मा का निश्चित ज्ञान उत्कृष्ट है। श्रवण तथा युक्तियों से

उपलब्ध निश्चित ज्ञान से निदिध्यासनरूप ध्यान अधिक विशिष्ट होता है क्योंकि सत्कारपूर्वक दीर्घकाल तक ध्यान का सतत अभ्यास साक्षात्कार की प्राप्ति में बहुत सहायता करता है। निदिध्यासन से भी अधिक उत्कृष्ट स्वरूप कर्मफल के त्याग का होता है क्योंकि श्रुति तथा स्मृति के ग्रन्थों में कामनाओं के त्याग की महती प्रशंसा की गई है क्योंकि त्याग से ही मुमुक्षुओं ने अमृतत्व की प्राप्ति की है :-

त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। तैत्तिरीयारण्यक, 10.12.28 (श्रुति)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। कठोपनिषद्, 2.3.14 (श्रुति)

"जब परम तत्त्व के जिज्ञासु के हृदय में रहने वाली सकल कामनाएं छूट जाती हैं उस समय मरणधर्मा अमर हो जाता है। इस शरीर में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।"

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। भ. गी. 2.55 (स्मृति)

"हे पार्थ ! जिस समय यह मुमुक्षु हृदय में स्थित समस्त इच्छाओं को भली-भाँति छोड़ देता है और अपने आप ही अपने से संतुष्ट रहता है। तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।"

इन उद्धरणों के प्रकाश में श्रीगीतागुह्य के श्लोकांश 'योगो ज्ञानेन स्याद् युक्तः' का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है "श्रवण के पश्चात् युक्तियों के द्वारा आत्मा के विषय में निश्चित ज्ञान से युक्त तथा फल की कामना से रहित होकर समत्वबुद्धि से कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।" यहाँ ज्ञान में तृतीया विभक्ति का प्रयोग साधन के अर्थ में मान कर ऐसा अर्थ किया गया है[5]। यदि ज्ञान यहाँ लक्ष्य के रूप में लिया जाता है तो ज्ञान का अर्थ परमात्मा के साथ एकीभाव होगा जैसा कि आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

'ज्ञानं योगेन संविशेत्' इस श्लोकांश में 'ज्ञान' शब्द का अर्थ यह किया जा सकता है "कर्तृत्व के अभिमान से ऊपर उठ कर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ एकीभाव में स्थित रहना।" निष्काम कर्म करते हुए दीर्घकालीन अभ्यास से जब अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है तब ऐसी स्थिति शीर्घ ही उत्पन्न हो जाती है और साधक के अन्तःकरण में सतत शान्ति की स्थिति बनी रहती है।

श्रीगीतागुह्य के श्लोक की पंक्ति 'भूर्भुवोवच्च सर्वत्र प्रश्नात् तयोर्व्यवस्थितिः।' अधिक मीमांसा की अपेक्षा करती है क्योंकि इस श्लोक के अंश 'भूर्भुवोवच्च'

5. ज्ञान से योग युक्त हो जाए, तो योग ज्ञानस्वरूप ही हो जाता है। सद्गुरुवाणी, पृ. 147.

के प्रसंग में बाबाश्री ने स्वामी राधारमणजी से यह कहा था कि ब्रह्मसूत्र के 'द्युभ्वायतनाधिकरण' से इसकी संगति बैठाई जा सकती है। अनुवाद के अन्तर्गत जो अर्थ किया गया है वह भी सन्तोषजनक प्रतीत होता है। वह सूत्र यह है: 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' ब्रह्मसूत्र 1.3.1 जिसके सन्दर्भ में भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने मुण्डकोपनिषद् का यह मन्त्र उद्धृत किया है: यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।। (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.5)। "जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा समस्त प्राणों के सहित मन ओतप्रोत है उस एक आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो और अन्य सब बातों को छोड़ दो - यही अमृत का सेतु है अर्थात् परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।" 'द्युभ्वाद्यायतनम्' 'द्यु'शब्द से द्युलोक अभिप्रेत है और 'भू'शब्द से भूलोक। श्रीगीतागुह्य के श्लोक में 'भू'शब्द से भूलोक और 'भुवः'शब्द से अन्तरिक्ष, जो द्युलोक का भी उपलक्षक है, लिया जा सकता है। द्युभ्वाद्यधिकरण में प्रश्न तथा उत्तर से ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भूलोक, द्युलोक आदि सब का आयतन अर्थात् आश्रय ब्रह्म ही है। बाबाजी के अनुसार इसको दृष्टान्त के रूप में लिया गया है और दार्ष्टान्तिक है योग तथा ज्ञान। प्रश्न करने से यह ज्ञात हो जाता है कि भूलोक आदि सब ब्रह्म में ओत-प्रोत हैं। वैसे ही परमात्मस्वरूप गुरु से स्वयं के लिये साधना के विषय में प्रश्न करने से यह ज्ञात हो जायेगा कि मुमुक्षु साधक किस मार्ग का अधिकारी है ज्ञान का या योग का? जो साधक अभी मन को नियन्त्रित करने की अपेक्षा रखता है उसके लिये कर्मयोग उपयोगी है क्योंकि फल की कामना से रहित होकर कुशलता से कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करने से व्यक्ति का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर वह ज्ञानमार्ग पर चलने का अधिकारी हो जाता है। इस आशय को ध्यान में रखकर प्रस्तुत श्लोक के अनुवाद में इस अर्थ का आश्रय लिया गया है।

कर्मयोग के प्रतिपादन के अनन्तर श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे षट्क में (सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक) प्रधानतः भक्तियोग का प्रतिपादन है। सातवें अध्याय के 16 वें श्लोक में (आर्त) दुःखी, सांसारिक पदार्थों का इच्छुक, जिज्ञासु तथा ज्ञानी इन चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख है तथा भगवान् ने सभी को उदार कहा है। आठवें अध्याय में अनन्यप्रेमपूर्वक भगवान् के चिन्तन को भगवान् की प्राप्ति का सरल उपाय बताया गया है। इस संदर्भ में यह अत्यन्त प्रासंगिक है कि नारदभक्तिसूत्र में भक्ति को जिस प्रकार परिभाषित किया गया है उसका उल्लेख किया जाये -

सा त्वस्मिन् परमप्रेमस्वरूपा।।2।।

"परमात्मा के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है।" जब हमें यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि परमात्मा ही समस्त पदार्थों का सार है तो स्वाभाविक रूप से सदा ही हमें सारभूत परमात्मा का स्मरण होता रहेगा। यह एक सर्वविदित सत्य है कि जिससे हम अत्यधिक प्रेम करते हैं उससे हमारा ध्यान कभी भी नहीं हटता। निरन्तर उसका ध्यान बना ही रहता है जैसा कि गोपियों का ध्यान भगवान् श्रीकृष्ण से कभी हटता ही नहीं था। यदि हमारी ऐसी ही अवस्था बनी रहती है तो भगवान् का ध्यान करते हुए ही हमारे द्वारा समस्त कार्यों का अनुष्ठान होता रहेगा और हमारा चित्त सदा निर्मल ही रहेगा। ऐसी ही भक्तिपूर्ण अवस्था का बाबाश्री ने अग्रिम श्लोक में वर्णन किया है :-

संस्मरन् सर्वसारं तं तदर्थं कर्म कल्पयन्।
तदादर्शस्त्वमेवासि तस्य भावः स एव हि।।6।।

अन्वय तथा अर्थ — तम् = उसको, सर्वसारम् = सब पदार्थों के सार को, संस्मरन् = भली-भाँति स्मरण करते हुए, तदर्थम् = उसके लिये, कर्म = कर्म, कल्पयन् = करते हुए, त्वम् = तुम, तदादर्शः = उसके आदर्श अर्थात् उसके सदृश, एव = ही, असि = हो, हि = क्योंकि, तस्य = उसका, भावः = होना, सः = वह, एव = ही (है)।

अनु० :- समस्त पदार्थों के सारभूत परमात्मा का स्मरण करते हुए उसके लिये कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। तुम परमात्मा के सदृश ही हो अर्थात् तुम परमात्मा के प्रतिबिम्ब हो। (माया की दृष्टि से) तुम उसी से उत्पन्न हुए हो (भाव का अर्थ उत्पत्ति भी होता है)। जो उसकी उत्पत्ति है वह वही है जैसे अग्नि से उत्पन्न चिंगारियाँ अग्नि ही होती हैं। (अतः हम उनके जैसे ही हैं। इसलिये यदि हम भगवान् से वैसे ही प्रेम करें जैसा हम अपने से करते हैं तो यही भक्ति है)।

व्या० :- हमारा मन सदा आत्मा में केन्द्रित न रहकर बहिर्मुखी ही बना रहता है। इसका हेतु यह है कि स्वयंभू (परमात्मा) ने मन तथा ज्ञानेन्द्रियों की प्रवृत्ति बलात् बहिर्मुखी बना दी है :

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। कठोपनिषद्, 2.1.1

"स्वयंभू ने इन्द्रियों को बलात् बहिर्मुखी बना दिया है। इसलिये जीव बाहर के विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमृतत्व प्राप्त करने की इच्छा से अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित कर लिया है ऐसा धीर पुरुष ही अन्तरात्मा को देख पाता है।"

योगदर्शन में यह कहा गया है कि सब वृत्तियों के अभाव में पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र 1.3) जब चित्त बहिर्मुख होकर वृत्तियों में परिणत होता है तब वह पुरुष वृत्तियों के सदृश हो जाता है (वृत्तिसारूप्यमितरत्र। योगसूत्र 1.4)। लेकिन ईश्वर के सतत स्मरण से चित्त ईश्वरमय हो जाता है तो स्वरूप में अवस्थित होने में कोई समस्या नहीं आती क्योंकि भक्त चैतन्य स्वभाव वाला होने के कारण ईश्वर जैसा ही होता है। यह भाव ही 'तदादर्शस्त्वमेवासि तस्य भावः स एव हि' - इस पंक्ति में अभिव्यक्त किया गया है। ब्रह्मानुभूति होने पर जीव परमात्मा के स्वरूप वाला हो जाता है जैसा कि मुण्डकोपनिषद् 3.2.9 में कहा गया है 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति = वह जो कि निश्चय ही उस परम ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है'।

श्रीगीतागुह्य के अग्रिम श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि भक्तियोग कैसे किया जाये तथा उसमें घटित होने वाला भक्तिभाव कैसा होता है :

पतितपावनः श्रीशः प्रीतः पत्रेऽपि पितृवत्।
धर्म्यामृतेन संसेव्यः सगुणो निर्गुणोऽपि सः।।7।।

अन्वय तथा अर्थ — श्रीशः = लक्ष्मीपति, पतितपावनः = पतितों को भी पवित्र करने वाले, पितृवत् =पिता के समान, पत्रे = पत्ते से, अपि = भी, प्रीतः = प्रसन्न, सः = वह परमेश्वर, सगुणः = सगुण अर्थात् मायोपाधिक, निर्गुणः = उपाधिरहित, अपि = भी है, (सः), धर्म्यामृतेन = धर्म के अनुसार किये गये कर्मरूपी अमृत से, संसेव्यः = उसकी सेवा करनी चाहिये।

अनु० :- लक्ष्मीपति पतितपावन हैं। पुष्प पत्तियों को समर्पित करने से भी पिता के समान वे प्रसन्न हो जाते हैं। शास्त्रविहित कर्म करके सगुण ईश्वर की सेवा करनी चाहिये। जो सगुण ईश्वर है, वही निर्गुण भी है। (श्रीमद्भगवद्गीता के 12वें अध्याय में भगवत्प्राप्ति के जिन साधनों का वर्णन किया गया है वे धर्मरूप अमृत ही हैं। इस प्रकार के साधनों से जो निर्गुण और सगुण ईश्वर के स्वरूपों की उपासना करता है वह परमात्मा का अत्यन्त प्रिय बन जाता है)।

व्या० :- लक्ष्मीपति भगवान् पतितपावन हैं। इसका अर्थ यह है कि दुराचार के मार्ग पर चलने वाला यदि कोई व्यक्ति हृदय से पश्चात्ताप करके बुरे कर्मों को छोड़कर अनन्य भाव से भगवान् की शरण में जाता है तो वे उसे अपना लेते हैं। यही पतितपावन का अर्थ है। यदि कोई छोटा बालक पिताजी के द्वारा लगाये हुए तुलसी के पौधे के एक पत्ते को या पिता के द्वारा लगाए गये फूलों के पौधे से एक फूल को तोड़कर पिताजी को प्रेमपूर्वक भेंट करता है तो वह पिता के प्रेम

का पात्र बन जाता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् भक्त की भावना देखते हैं। यदि भक्त प्रत्येक कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिये करता है तो वह परमात्मा के प्रेम का पात्र बन जाता है। शास्त्र के अनुसार जिन कर्मों का विधान है उन कर्मों को भगवान् को समर्पित करना ही भगवान् की धर्मरूपी अमृत से सेवा करना है। अथवा प्रणव ही सब वेदों का सार है, अमृत है। प्रणव के द्वारा भगवान् की सेवा करना भी भगवान् की धर्मरूपी अमृत से सेवा करना है। मुण्डकोपनिषद् का यह मन्त्र प्रणवोपासना का वर्णन करता है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। 2. 2. 4।।

"प्रणव धनुष है, (उपाधिसहित) आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये जैसे बाण लक्ष्य को वेध कर लक्ष्य में समा जाता है वैसे ही मुमुक्षु को ब्रह्ममय हो जाना चाहिये।"

भक्त की अपेक्षा के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही माया को लेकर सगुण हो जाते हैं जैसे बाबाश्री आत्मचिन्तनम् के 14 वें श्लोक में कहते हैं : विशिष्ट इष्टतो मान्यो भक्तापेक्षितविग्रहः। निर्गुण की उपासना कठिन है। अतः सगुण की उपासना से चित्त की शुद्धि करके हमें निर्गुण का चिन्तन-ध्यान करते हुए अपने चैतन्यस्वरूप से तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिये।

शरीरं क्षेत्रमित्याहुर्ज्ञानं सत्त्वव्यवस्थितिः।
मूलं ज्ञेयं परं ब्रह्म जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्।।8।।

अन्वय तथा अर्थ — शरीरम् = शरीर को, क्षेत्रम् = खेत, इति = ऐसा, आहुः = कहते हैं, सत्त्वव्यवस्थितिः = सत्त्वगुण में स्थित बने रहना (ही), ज्ञानम् = ज्ञान (है), परम् = परम, ब्रह्म = परमात्मा, मूलम् = सबका बीज (है), ज्ञेयम् = जानने योग्य, अन्वयात् = परमतत्त्व की सत्ता के अनुगत होने के कारण, यतः = जिससे, अस्य = इस जगत् के, जन्मादि = जन्म, स्थिति तथा प्रलय (होते हैं)।

अनु० :- शरीर को क्षेत्र कहते हैं क्योंकि इसमें कर्मरूपी बीज बोए जाते हैं और भोगरूपी फल भी इसी में दिखाई देते हैं। सत्त्वगुण में स्थिति ही ज्ञान है अर्थात् जब दैवी सम्पत्ति से अन्तःकरण शुद्ध होता है तब उसमें ज्ञान उदित होता है (अथवा सत् (ब्रह्म) में स्थित रहना ज्ञान है)। संसार का मूल परम ब्रह्म जानने योग्य है। सत्तारूप से जगत् में अनुगत होने के कारण परब्रह्म ही सबका मूल है।।8।।

व्या० :- शरीर से हम कर्म करते हैं और ये कर्म ही इस शरीर में बीज के समान बोए जाते हैं। जैसे खेत में बीज बोने तथा उन बीजों से उत्पन्न फलों की प्राप्ति होती है। वैसे ही कर्म इस शरीर में बीज के समान कार्य करते हैं और जो कर्म हम करते हैं उनके फल भी हमें शरीर में ही देखने को मिलते हैं। इस हेतु से श्लोक में शरीर को क्षेत्र कहा गया है। क्षेत्र तथा शरीर में और भी समानता देखने को मिलती है। जैसे खेत में हल चला कर उसे तैयार किया जाता है और उसमें खाद और जल दिया जाता है वैसे ही व्यायाम आदि से शरीर को ठीक रखकर उसे अन्न, जलादि देते हैं। जैसे खेत में अच्छा बीज ठीक समय पर डालते हैं वैसे ही ठीक समय पर शरीर को उचित शिक्षा दिला देते हैं। जैसे पशु-पक्षी से खेत की रखवाली करते हैं तथा उसमें जंगली घास-फूस की निराई की आवश्यकता होती है वैसे ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और वासनाओं से शरीर की रक्षा की आवश्यकता होती है। क्षेत्र और शरीर इस पक्ष में भी समान है कि दोनों का क्षय प्रति क्षण होता है। इन बातों से यह तत्त्व निकलता है कि शरीर का सदुपयोग करना मनुष्य का कर्तव्य है। भगवत्प्राप्ति के लिये प्रयत्न ही इसका सबसे अच्छा उपयोग है क्योंकि इस शरीर को ही साधनधाम, मोक्ष का द्वार भी कहा गया है। इस क्षेत्र से ही बीज यानी सत् की खोज होती है, हम कौन है, कहाँ से आये हैं? क्षेत्र से जो अतीत है वह भी ईश्वर ही है। वह क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ है। त्याग, तपस्या आदि दान, पुण्य सम्पादन करने के लिये यह शरीर क्षेत्र है।[6]

(शरीर के contrast में अर्थात् जड़ तथा चैतन्य के विपरीत स्वभाव को ध्यान में रखते हुए) शरीर के विपरीत 'सत्त्वव्यवस्थितिः' का अर्थ ब्रह्मस्वरूप ज्ञान भी लिया जा सकता है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है : 'सत्त्वव्यवस्थितिः' में यदि 'सत्त्व' शब्द का अर्थ सत् किया जाये तो सत् में विशेषरूप से स्थित रहना ही ज्ञान की स्थिति है अर्थात् ज्ञान ही है क्योंकि सत् का चैतन्य तथा आनन्द स्वरूप भी है। इसी अर्थ को लेकर बाबाश्री ने इस प्रकार कहा था, "सत्त्व में व्यवस्थिति को ज्ञान कहते हैं और जो आत्मा में ही रममाण है, उसी को ज्ञान कहते हैं, जो आत्मा में स्थित हो गया है, परमेश्वर में जिसका मन लग गया है, विश्व उसको जैसे भूल ही गया है, वही ज्ञानी पुरुष आत्मा में स्थित पुरुष है, वही सत्त्व में स्थित है[7]।" ज्ञान तो स्वयं भगवान् ही है। निष्काम सत्स्वरूप है, ज्ञान आनन्दस्वरूप ही है।[8]

श्रीगीतागुह्य का यह श्लोक क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोगसंज्ञक तेरहवें अध्याय से सम्बन्ध रखता है। उस अध्याय में प्रतिपादित विषय को ध्यान में रखते हुए 'ज्ञानं

6. सद्गुरुवाणी, पृ. 143-4.
7. श्रीरमेशचन्द पालीवाल के द्वारा भेजे गये गीतागुह्य के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत।
8. सद्गुरुवाणी, पृ. 145.

सत्त्वव्यवस्थितिः' में 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मस्वरूप ज्ञान न लेकर साधनभूत ज्ञान लिया जाये तो सामान्य साधकों की दृष्टि से अधिक उपयोगी रहेगा। तेरहवें अध्याय के प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रखकर ही संभवतः भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने 'ज्ञान' शब्द की साधनभूत ज्ञान के रूप में ही व्याख्या भी की है। इस प्रसंग में यह कहना भी अनुकूल रहेगा कि बाबाश्री ने अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणों को ज्ञान कहा है[9] और सत्त्व गुण में स्थिति को भी ज्ञान कहा है। यद्यपि बाबाश्री ने दोनों ही अर्थ दिये हैं तथापि 'ज्ञान' शब्द से जो साधनभूत ज्ञान अर्थ लिया जा रहा है वह व्याख्या की अपेक्षा रखता है क्योंकि हम जैसे लोगों के लिये साधनभूत ज्ञान के स्वरूप को समझना अधिक लाभप्रद रहेगा क्योंकि परमात्मस्वरूप ज्ञान तो लक्ष्य है और वहाँ तक पहुंचने के लिये अन्तःकरण की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही साधनरूप ज्ञान के स्वरूप को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करते हैं :

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।7।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।8।।
आसक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।9।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।10।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।11।।

"अभिमान तथा दम्भ आचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को दुःख न पहुंचाना, क्षमा का भाव, मन, वाणी तथा व्यवहार में सरलता, श्रद्धा तथा भक्ति से गुरु की सेवा, बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि, मानसिक स्थिरता, मन और इन्द्रियों का नियन्त्रण, सकल इन्द्रियों के विषयों में अनासक्ति, अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, व्याधि, दुःख तथा अन्य दोषों का पुनः-पुनः विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर, धनादि में आसक्ति का अभाव, ममत्व का अभाव, इष्ट तथा अनिष्ट के प्राप्त होने पर समभाव रखना, यह मानकर कि मुझ परमेश्वर से अतिरिक्त और कुछ नहीं है इस

9. सद्गुरुवाणी, पृ. 144.

प्रकार अनन्ययोग से मुझमें अव्यभिचारिणी भक्ति रखना, ध्यानानुकूल एकान्त स्थान पर रहने का अभ्यास, लोगों की बैठक में अरुचि, अध्यात्म ज्ञान का नित्य अभ्यास करना, तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा का ही सदा ध्यान करना - यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है।"

इस प्रकार गीताजी में ही ज्ञान का साधनस्वरूप प्रतिपादित किया गया है जो सामान्य साधकों के लिये अत्यन्त उपादेय है। इसकी सहायता से अन्तःकरण को शुद्ध करके हम लक्ष्यभूत ज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं।

संसार का मूल परब्रह्म है क्योंकि उसी परब्रह्म से जगत् का जन्म, स्थिति तथा उसमें ही जगत् का लय होता है। श्रीगीतागुह्य के प्रस्तुत श्लोक का 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण है क्योंकि यह चरण 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्मसूत्र 1.1.2 से सीधा सम्बन्ध रखता है तथा 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' श्रीमद्भागवत के मङ्गल श्लोक का प्रारम्भ है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बाबा श्रीमस्तरामजी दोनों संदर्भों के भाव का अभिप्राय समझने की ओर निर्देश कर रहे हैं। पहले हम ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध में विचार कर लेते हैं। 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्मसूत्र 1.1.2 - यह सूत्र ब्रह्म का लक्षण है जिसका अर्थ है जिससे दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होने के अनन्तर जगत् जिसमें स्थित रहता है तथा अन्त में जिसमें लीन हो जाता है, वह ब्रह्म है। तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.1 "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।" - यह श्रुति ब्रह्म के इस प्रस्तूयमान लक्षण का समर्थन करती है परन्तु यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। तटस्थ लक्षण में तटस्थ धर्म लक्ष्य को परिभाषित करते हैं। जन्म, स्थिति तथा लय जगत् के धर्म हैं। ये ब्रह्म के धर्म नहीं हैं। यदि ये धर्म ब्रह्म के लक्षण के घटक बनते हैं तो यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहा जायेगा। उदाहरण से इसे समझने का प्रयास करते हैं। जैसे भ्रम से दिखाई देने वाला जो रजत है, वही सीप है। इस प्रकार जैसे चाँदी सीप को लक्षित करती है, इसी प्रकार जगत् का कल्पित कारणत्व जिसमें है, वह ब्रह्म है[10]। इस प्रकार कल्पित या अध्यस्त जगत् का कारणत्व ब्रह्म के लक्षण के रूप में समझा जा सकता है। बाबाश्री के 'आत्मचिन्तनम्' का प्रथम श्लोक भी इसी तथ्य को बताता है। 'योऽनन्ताय नित्याय निरस्ताध्यस्तधर्मिणे' में 'निरस्ताध्यस्तधर्मिणे' शब्द इसी की ओर संकेत करता है। अनन्त तथा नित्य पुरुष ऐसा है जिसमें से सारे अध्यस्त धर्म (जन्म, स्थिति, लय आदि) निरस्त हो गये हैं अर्थात् परम

10. यथा रजतं शुक्तेर्लक्षणं यद्रजतं सा शुक्तिरिति, तथा यद् जगत्कारणम् तद् ब्रह्मेति कल्पितं कारणत्वं तटस्थं सदेव ब्रह्मणो लक्षणमित्यनवद्यम्। भोलेबाबाकृत हिन्दी अनुवाद, भाष्यरत्नप्रभा, पृ. 101, "जो चाँदी है, वही सीप है, इस प्रकार जैसे चाँदी सीप का लक्षण है, इसी प्रकार जो जगत् का कारण है, वह ब्रह्म है" - ऐसा कल्पित जगत्कारणत्व तटस्थ होकर ही ब्रह्म का लक्षण है, इसलिये यहाँ कोई दोष नहीं है।

तत्त्व में जन्म आदि ऐसे ही कल्पित हैं जैसे सीप में चाँदी या रस्सी में सर्प कल्पित है (अर्थात् भ्रमजनित है)। जैसे कल्पित सर्प या कल्पित चाँदी क्रमशः रस्सी या सीप को लक्षित कर सकती है वैसे ही ब्रह्म में अध्यस्त जगत् के जन्म आदि ब्रह्म के लक्षण हो सकते हैं। परन्तु ब्रह्म के धर्म न होकर जन्म आदि कल्पित या अध्यस्त जगत् के धर्म हैं। इसलिये जगत् के जन्म आदि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण के रूप में समझे जाते हैं।

दूसरा संदर्भ भागवतपुराण का है। भागवतपुराण का मंगल श्लोक एक अत्यन्त सारगर्भित पद्य है। श्रीधरस्वामी की व्याख्या इस पद्य में संगृहीत एक अत्यन्त गंभीर दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषय को समझाती है:

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।"

"जिस परम सत्य की सत्ता जगत् के प्रत्येक पदार्थ में अनुगत होने के कारण तथा असत् आकाशपुष्प आदि अलीक पदार्थों में अविद्यमान होने के कारण जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं; जो जड़ नहीं, चेतन है; जो परतन्त्र नहीं है, प्रत्युत जिसे स्वाराज्य प्राप्त है अर्थात् जो स्वतन्त्र है; जो ब्रह्मा नहीं है बल्कि जिसने अपने हृदय से ही ब्रह्मा में वेदज्ञान आलोकित किया (वेदों का प्रादुर्भाव किया); जिसके विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं; जैसे सूर्य की रश्मियों में जल की, जल में शीशे (काँच) की, काँच में जल की तथा रत्नादि में तेज की (पारस्परिक) प्रतीति होती है, उसी प्रकार जिसमें त्रिगुणमयी सृष्टि अधिष्ठान की सत्ता के कारण सत्यवत् प्रतीत होती है; सर्वज्ञ होने के कारण जो सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्य से पूर्णतः मुक्त है उस परमसत्यरूप वासुदेवाख्य परमात्मा का हम ध्यान करते हैं।"

भागवतपुराण के इस माङ्गलिक श्लोक को अन्वितार्थप्रकाशिका में श्रीगङ्गासहाय ने चिन्तामणि के सदृश अनन्त पदार्थों को प्रदान करने वाला कहा है (प्रथमश्लोकस्तु चिन्तामणिरिवानन्तार्थदः)। श्रीगङ्गासहाय के अनुसार भागवत पुराण के प्रतिपाद्य विषय हैं - निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म प्राप्ति के उपाय भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा उन दोनों का उपकारक कर्मयोग। बाबाजी की रचनाओं में विशेषतः श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य में इन्हीं कल्याणप्रद विषयों को बाबाश्री ने विस्तारपूर्वक समझाया है। श्रीगीतागुह्य के जिस श्लोक की व्याख्या की जा रही है उस श्लोक का श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय से सीधा सम्बन्ध है। मुख्यतः

ज्ञानयोग के लिये साधनभूत ज्ञान का हम कर्मयोग में संनिवेश कर सकते हैं क्योंकि दम्भ का अभाव, अहंकाररहित होना, हिंसारहित होना, हर स्थिति में सीधापन रखना, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्ययुक्त होना आदि अन्तःकरण की निर्मलता के साधन ही हैं। इस प्रकार से यह साधनभूत ज्ञान ही उपर्युक्त गीताजी के श्लोकों में प्रतिपादित है और व्यक्ति के लिये अन्तःकरण को शुद्ध करने में बहुत ही सहायक है। अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् ही व्यक्ति कुशलतापूर्वक निष्काम भाव से कर्म करने में समर्थ होता है और ज्ञानप्राप्ति के अधिकार को प्राप्त कर लेता है। यह तो स्पष्ट ही है कि भागवत के प्रस्तुत मंगल श्लोक में 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' से ब्रह्म का तटस्थ लक्षण प्रस्तुत किया गया है जैसा कि 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्मसूत्र 1.1.2 के प्रसंग में प्रतिपादित किया गया है। यह अवधेय है कि यहाँ 'यतः'शब्द से 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दरूपं वस्तु' का भी ग्रहण किया जा रहा है। इस प्रकार स्वरूपलक्षण की भी सिद्धि हो जाती है क्योंकि इस तथ्य की पुष्टि में तैत्तिरीयश्रुति का वाक्य भी उद्धृत किया जाता है।[11]

श्रीमद्भागवत में प्रधानतया भगवान् के गुणों का वर्णन है उसको प्रारम्भ करने के इच्छुक वेदव्यासजी ने सकल विघ्नों की निवृत्ति के लिये श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में परदेवता का स्मरणात्मक मङ्गल किया है। 'सत्यं परं धीमहि' से परदेवता का स्मरण किया जा रहा है। लौकिक संस्कृत में 'ध्यै चिन्तायाम्' का विधिलिङ् में 'ध्यायेम' रूप बनता है परन्तु वेदव्यासजी के द्वारा किया गया 'धीमहि' वैदिक प्रयोग यह सूचित करता है कि गायत्रीमन्त्र से जो ब्रह्मविद्या जानी जाती है, श्रीमद्भागवत वही विद्या है।[12]

गुणार्हमम्बरं येन व्यावृतं वै तदमृतम्।
यद् बुद्धा विरसं सर्वं येन स्यान्मधुरं मधु।।9।।

अन्वय तथा अर्थ — गुणार्हम् = सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों से निर्मित, अम्बरम् = वस्त्र, येन = जिससे, तद् = वह, अमृत = परम तत्त्व का वास्तविक स्वरूप, वै = निश्चित रूप से, व्यावृतम् = अच्छी तरह ढका हुआ है, यद् = जिसको, बुद्धा = जानकर, सर्वम् = सब कुछ, विरसम् = सारहीन, येन = जिससे, मधु = शहद, मधुर = मीठा, स्याद् = हो जाता है।

अनु० :- गुणों से निर्मित वस्त्ररूप माया से वह अमृतस्वरूप ब्रह्म निश्चित रूप से विशेषतः ढका हुआ है। जिसका ज्ञान हो जाने के अनन्तर अन्य सब कुछ नीरस हो जाता है, जिससे मधु भी मधुर हो जाता है।

11. यच्छब्देन सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दरूपं वस्तूच्यते। आनन्दाद्येव (तै. आ. 3.6.1) इति निर्णीतत्वात, तथा च स्वरूपलक्षणसिद्धिरिति मन्तव्यम्। वही, पृ. 103.

12. धीमहीति गायत्र्या प्रारम्भेण च गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यारूपमेतत्पुराणमिति दर्शितम्। श्रीधरीटीका।

व्या० :- परमतत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप है परन्तु वह ऐसे वस्त्र से अच्छी तरह ढका हुआ है जो सत्त्व, रजस् तथा तमस् - गुणरूपी धागों से बुना हुआ है अर्थात् त्रिगुणात्मिका मायारूपी वस्त्र से परमात्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप ढका हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् 2. 7.1 में ब्रह्म की आनन्दरूपता का सुन्दर प्रतिपादन है : यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। "वह सुकृत निश्चय ही रस है। इस रस को प्राप्त करके व्यक्ति आनन्दित हो जाता है। यदि हृदयाकाश में विद्यमान यह आनन्दस्वरूप आत्मा न होता तो कौन व्यक्ति अपान क्रिया करता तथा कौन प्राणन क्रिया करता? यही तो उन दोनों व्यापारों को आनन्दित करता है।" कहने का तात्पर्य यह है कि परम तत्त्व आनन्दस्वरूप है परन्तु परमात्मा का यह आनन्दरूप त्रिगुणात्मिका माया[13] से ढका हुआ है। इस त्रिगुणात्मिका माया को पार करने के लिये ही भगवान् ने गीताजी में कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का उपदेश दिया है। इन तीनों मार्गों पर चलने के लिये मन को वश में रखना अत्यन्त आवश्यक है और अर्जुन के द्वारा पूछे जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" "हे कौन्तेय! अभ्यास तथा वैराग्य से ही मन को वश में किया जा सकता है।" मन के निगृहीत होने पर व्यक्ति सन्तुलित अन्तःकरण से अपने स्वभाव के अनुसार तीनों मार्गों में से किसी एक मार्ग का चुनाव कर सकता है। निरनन्तर, दीर्घकाल तक आदरपूर्वक उस पर चल कर इस त्रिगुणात्मिका माया को पार कर सकता है और उस अमृतस्वरूप, आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने में सफल हो सकता है। आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के पश्चात् सकल संसार के विषय नीरस हो जाते हैं क्योंकि जो भी विषयों में आनन्द या सुख का अनुभव होता है वह परमात्मस्वरूप वास्तविक आनन्द की अत्यन्त अल्प मात्रा पर आश्रित होता है।[14] वही आनन्द का तारतम्य सकल पदार्थों में व्याप्त रहता है। 'येन स्यान्मधुरं मधु = शहद को भी उससे माधुर्य मिलता है' - इस कथन का यही तात्पर्य है। अतः इन्द्रियों के विषयों के प्रति वैराग्यदृष्टि उत्पन्न करके अपने हृदयाकाश में विद्यमान आनन्द की अनुभूति के लिये सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये।

तपस्त्यागादिभिर्लिङ्गैर्मुक्तिमार्गः प्रतीयते।
दम्भदर्पादिभिर्लिङ्गैर्बन्धमार्गो न गम्यते।।10।।

अन्वय तथा अर्थ — तपस्त्यागादिभिः = तप, त्याग आदि से, लिङ्गैः = चिह्नों से, मुक्तिमार्गः = मोक्ष का मार्ग, प्रतीयते = दिखाई देता है, दम्भदर्पादिभिः =

13. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। भ. गी. 7. 14.
14. एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.32.

दम्भ, घमण्ड आदि से, लिङ्गैः = चिह्नों से, बन्धमार्गः = बन्धन का मार्ग, न = नहीं, गम्यते = पार किया जा सकता है।

अनु० :- तपस्या आदि साधनों के अभ्यास से जब हममें तपश्चर्या आदि के चिह्न दिखाई देने लगते हैं तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि हम मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। इसका अर्थ है कि तप आदि का अभ्यास करने वाला व्यक्ति मुक्तिमार्ग का पथिक है। यदि हममें दम्भ, दर्प आदि दुराचार भाव हैं और हमसे इनका प्रदर्शन भी हो जाता हैं तो हम बन्धमार्ग को पार नहीं कर सकते अर्थात् हमें पाखण्ड, घमण्ड आदि भावों से ऊपर उठ कर तपस्या, त्याग आदि साधनों से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

व्या० :- तप निवृत्तिमार्ग का एक प्रधान चिह्न है और त्याग से तप और अधिक निखरता है। नियन्त्रित किये हुए मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है। तप, त्याग आदि जो महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य लक्षण हैं उनको मुक्तिमार्ग पर चलने की इच्छा वालों के लिये जीवन में उतारना अत्यन्त आवश्यक होता है। वास्तव में अपनी सकल कामनाओं को त्याग देना ही एक बहुत कठिन तपस्या है। इसका महत्त्व इससे ज्ञात होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में कामनाओं के त्याग पर समुचित बल दिया गया है :

प्रजहाति यथा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।2.55
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।2.71

तपस्या के साथ विवेक होना तपस्या के प्रभाव को और अधिक बढ़ा देता है और मोक्ष प्राप्ति को सुनिश्चित करता है। यदि यह लक्षण किसी के जीवन में दृष्टिगोचर हो तो जान लेना चाहिये कि वह मुक्तिमार्ग का पथिक है।[15] बाबाश्री के प्रस्तुत श्लोक के महत्त्व को समझने के लिये गीताजी के 14, 16 तथा 17 वें अध्यायों में प्रतिपादित सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों के व्यापारों और दैवी तथा आसुरी सम्पद् के स्वरूप को समझना आवश्यक है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के 16 वें अध्याय के चौथे श्लोक में प्रतिपादित आसुरी सम्पद् व्यक्ति को बन्ध मार्ग से उबरने ही नहीं देगी। इसलिये यदि व्यक्ति में मोक्ष प्राप्त करने की वास्तविक इच्छा है तो ऐसे मुक्तिमार्ग के पथिक को दम्भ, दर्प आदि दुष्ट भावों का बहुत सावधानी से त्याग कर देना चाहिये :

15. सद्गुरुवाणी, पृ. 67-8.

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।

श्रीगीतागुह्य के 10 वें श्लोक से सम्बन्धित इन तीनों अध्यायों का प्रतिपाद्य संक्षेप में इस प्रकार है: चतुर्दश अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् कहते हैं कि मैं उत्तम ज्ञान बताता हूँ जिसको जान कर सब मुनियों ने परम सिद्धि की प्राप्ति की। हे महाबाहो! सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुण नित्य आत्मा को बन्धन में डालते हैं। सत्त्वगुण से ज्ञान तथा सुख उत्पन्न होते हैं। ये अन्तःकरण के धर्म होने के नाते आत्मा के बन्धन के कारण हैं क्योंकि सुख के ज्ञान से सुख में आसक्ति उत्पन्न होती है। रजोगुण आत्मा को कर्म की आसक्ति में बाँधता है। तमोगुण प्रमाद, आलस्य आदि में बाँधता है। सत्त्वगुण से वृत्तिज्ञान (जिसको बाबाजी ने आत्मचिन्तनम् में 'ज्ञानमज्ञानपर्यन्तम्' कहा है) रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, आलस्य और मोह उत्पन्न होते हैं। इन तीनों गुणों पर अव्यभिचारिणी भक्ति से विजय प्राप्त करके व्यक्ति ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के योग्य बन जाता है। तप, त्याग, दान, इन्द्रियनिग्रह, स्वाध्याय, क्षमा, धैर्य दैवी सम्पद् हैं। इनके अपनाने से व्यक्ति मुक्तिमार्ग पर आगे बढ़ता है। दम्भ, अहंकार, दर्प, वचन की कठोरता, अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरी सम्पद् हैं। इनके स्वरूप को समझ कर व्यक्ति इनको छोड़ने में सफल हो सकता है। सत्रहवें अध्याय में सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक श्रद्धा के स्वरूप को समझाया गया है। इनके स्वरूप को भली-भाँति समझ कर मुमुक्षु दर्प, दम्भ आदि को छोड़ कर विवेकपूर्वक तप, त्याग आदि का अभ्यास करके परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

बाबा श्रीमस्तरामजी ने श्रीगीतागुह्य के अन्तिम श्लोक में लगभग सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता का सार प्रस्तुत कर दिया है क्योंकि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के आचरण को ही भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताजी में समझाया है :

इत्थं हि साधु वर्तेथा यथा त्वां तु स्मरेद्धरिः।
परित्यज्य प्रवृत्तिं वा सर्वदैकं हरिं स्मर।।11।।

अन्वय तथा अर्थ — इत्थम् = इस प्रकार, हि = निश्चित रूप से, साधु = सज्जनों के समान, वर्तेथाः = व्यवहार करना चाहिये, यथा = जिससे, हरिः = परमात्मा, तु = तो, त्वाम् = तुझको, स्मरेत् = स्मरण करें, वा = या, प्रवृत्तिम् = सब प्रवृत्ति को, परित्यज्य = छोड़कर, सर्वदा = हमेशा, एकम् = एक को, हरिम् = हरि को, स्मर = स्मृति का विषय बनाओ।

अनु० :- इस प्रकार सद्-व्यवहार करो कि परमात्मा तुमको याद रखे अर्थात् परमेश्वर को आप इतने अच्छे लगो कि वे स्वयं आपके योग-क्षेम का वहन करें। या समस्त प्रवृत्तियों को छोड़ कर सदा ही हरि का स्मरण करते रहो।।11।।

व्या० :- कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग के संक्षिप्त विवेचन के अनन्तर बाबा श्रीमस्तरामजी ने अन्तिम श्लोक में पूरी श्रीमद्भगवद्गीता के सार का संग्रह कर दिया है। इस श्लोक में यह कहा गया है कि जीवन में हमें इस प्रकार का आचरण करना चाहिये कि हम भगवान् के स्मरण के पात्र बन जायें। भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिये मोक्ष की अभिलाषा करने वाला साधक जीवन कैसे व्यतीत करे? इस प्रश्न का उत्तर ही तो सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता में समझाया गया है। दूसरे अध्याय में युद्ध का दृश्य देखकर अर्जुन को जो विषाद ने जकड़ लिया था उससे उबारने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा की नित्यता का उपदेश देकर यह कहा था "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (भ. गी. 2. 47)। तेरा कर्म में अधिकार है, फल में नहीं। कर्मफल का हेतु मत बन और कर्म न करने में तेरी आसक्ति न हो क्योंकि कोई भी कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता (भ. गी. 3. 5)।" इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण आगे कहते है कि सकल कामनाओं का त्याग करके हमें सब कर्तव्य कर्म समत्वबुद्धि से करने चाहिये। आवश्यक विषयों का रागद्वेषरहित इन्द्रियों से सेवन करके जीवन जीना चाहिये। जो व्यक्ति ममत्व को छोड़कर अहंकारभाव से रहित होकर कर्म करता है उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। भ. गी. 3.30. "सब कर्मों को मुझमें समर्पित करके मुझ परमात्मा में चित्त लगाकर आशारहित, ममतारहित तथा संतापरहित होकर युद्ध करो।" अर्जुन को दिया गया यह उपदेश हम सबको यह समझाता है कि जो भी कर्तव्य कर्म हमारे सामने आते हैं हमें उन सबको समत्व भाव से करना चाहिये। गीताजी में काम, क्रोध तथा लोभ के ऊपर विजय प्राप्त करके जीवन जीने का उपदेश दिया गया है। इन तीनों में काम मूल में है। काम की पूर्ति होने पर उसमें लोभ उत्पन्न हो जाता है और पूरा न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन तीनों से मन मलिन होता है जिसके कारण हम अपने परमपुरुषार्थ से दूर हो जाते हैं। इसका महत्त्व बताने के लिये श्रीकृष्ण कहते हैं : यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। भ. गी. 4.19. "जिसके सारे शास्त्रसम्मत कर्म बिना इच्छा तथा बिना संकल्प के होते हैं और जिसके सारे कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये है, उस महापुरुष को ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं।"

मन के चंचल होने के कारण उसके नियन्त्रण करने की कठिनाई का जब अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष उल्लेख करता है तो वे वैराग्यपूर्ण अभ्यास से उसको वश में करने की शिक्षा देते हैं (अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। भ. गी. 6.35)। किस प्रकार के आचरण से जीवन का निर्वहन करते हुए हम भगवान् की कृपा के पात्र बन सकते हैं? इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ पद्य उद्धृत करने योग्य हैं :

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। भ. गी. 8.14

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां सततयुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। वही, 9.22

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। वही, 9.27

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। वही, 18. 65 (9.34 भी देखें)

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति अनन्यभाव से सदा ही मेरा स्मरण करता है निरन्तर मुझमें व्यापृत रहता है उसको मैं आसानी से प्राप्त हो जाता हूँ।"

"जो अनन्यभाव तथा निष्काम भाव से केवल मेरा ही चिन्तन करते हैं निरन्तर चिन्तन करने वाले उन व्यक्तियों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।"

"हे कौन्तेय! जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तपस्या करता है वह सब मुझको अर्पित कर दे।"

"मुझ में समर्पित मन वाला बन, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा करने वाला बन, मुझे नमस्कार कर, तू मुझे ही प्राप्त करेगा - यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्रिय है।"

आध्यात्मिक साधना करने वाले साधक के लिये अग्रिम श्लोक में जीवन जीने का अत्यन्त सुन्दर ढंग बताया गया जिससे हम निश्चित तौर पर परमात्मा की कृपा के पात्र बन सकते हैं। हमें ऐसा जीवन जीना चाहिये कि हम भगवान् के स्मरण का विषय बन जायें - यही इसका अभिप्राय है।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। वही, 18.52, 53.

"निर्जन देश का सेवन करने वाला, सात्त्विक नपा-तुला भोजन करने वाला, मन, वाणी तथा शरीर को संयम में रखने वाला, वैराग्य का दृढ़ता से पालन करने वाला, ध्यानयोग में लगा रहने वाला, अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध तथा वस्तुओं के एकत्र करने के लोभ से मुक्त, ममतारहित, शान्तियुक्त पुरुष में ब्रह्मभाव की योग्यता आ जाती है।"

श्रीगीतागुह्य के श्लोक की अगली पंक्ति में यह कहा गया है कि सब प्रकार की प्रवृत्तियों को छोड़ भगवत्स्मरण करना चाहिये। इस प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता के अट्ठारहवें अध्याय का यह श्लोक अत्यन्त लोकप्रिय है :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। भ. गी. 18. 66

"सकल कर्तव्य कर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा। शोक मत कर।"

जब हम सब प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन हो जायेंगे अर्थात् जीवन जीने के लिये जो अनिवार्य कार्य-कलाप हैं उनके अतिरिक्त संसार से सम्बन्धित कर्मों को न करके सदा केवल भगवान् के नाम का ही स्मरण करते रहेंगे तब हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा और हममें ऐसी योग्यता आ जायेगी कि हम परमात्मा का साक्षात्कार कर सकें।

हरि ॐ तत्सत्

श्रीमद्भगवद्गीतापारिजातपुष्पवाटिकायाःसारमुद्धृत्य
कृतं श्रीकृष्णार्पणमिदं मधु।।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी पारिजात के पुष्पों की वाटिका से सार निकाल कर श्रीकृष्ण को यह मधु समर्पित किया गया है।

आत्मचिन्तनम्

जब भी हम मृत्यु के विषय में चिन्तन करते हैं तो हमारा मन आश्चर्य तथा भय से भर जाता है। जो मनुष्य आज दिखाई दे रहा और वह दूसरे दिन न जाने कहाँ चला जाता है और तनिक भी प्रभावित हुए बिना जगत् का व्यवहार चलता रहता है। फिर भी व्यक्ति का ध्यान इस शरीर की अनित्यता की ओर नहीं जाता और वह इन्द्रियों के विषयों से मिलने वाले क्षणिक सुख में आसक्त होकर उनमें सतत सुख ढूँढने में लगा रहता है। बाबा श्रीमस्तराम जी ने श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य में कई बार मृत्यु के विषय में चिन्तन करने को कहा है ताकि व्यक्ति इस शरीर की अनित्यता को पहचान कर इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर शास्त्रों में बताये गये ऐसे उपायों को अपने जीवन में अपनाये जिनके अनुसार जीवन बिताने से परमात्मविषयक चिन्तन में रुचि उत्पन्न हो और अन्य अनावश्यक सांसारिक कार्य-कलापों से विरक्ति पैदा हो। सत्त्वगुण सम्पन्न सज्जनों की संगति में मन लगने लगे। ऐसा करने से शनैः-शनैः मन में परमात्मा के दर्शन करने के लिये उत्कट इच्छा जागृत होगी। तदनन्तर परम तत्त्व के स्वरूप की जिज्ञासा में वृद्धि होगी और व्यक्ति के आध्यात्मिक प्रयासों में भी सतत बढ़ोतरी होगी। व्यक्ति का चित्त निर्मल होगा और सत्त्व का उत्कर्ष होने पर साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त होगी तथा परमात्मा के दर्शन के लिये व्याकुलता में वृद्धि होगी। बहिर्मुखी प्रवृत्तियां बलहीन हो जायेंगी। विरक्तगीत में उल्लिखित वसन्त ऋतु का उदय होगा जिससे शीत-ऋतुरूपी अज्ञान का अन्त सूचित होता है। यद्यपि संसार के विषयों में आसक्ति के कारण आत्मविषयक चिन्तन करना एक कठिन कार्य है तथापि आत्मविषयक चिन्तन निःसन्देह एक अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य कर्म है क्योंकि इसी प्रक्रिया से हम आन्तरिक यात्रा करने के लिये तैयार हो जाते हैं। बाबा श्रीमस्तरामजी की कृति इस उद्देश्य की पूर्ति करती है।

जगत् की असारता का बोध कराने के लिये साक्षात्कारसम्पन्न महापुरुष पहले अध्यास या अध्यारोप का ज्ञान कराते हैं और फिर उसके आधार पर यह समझाते हैं कि दृश्यमान जगत् वास्तव में एक अध्यारोपित दृश्य है। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अध्यासभाष्य में अध्यास का लक्षण 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' के रूप में दिया है जिसका अर्थ यह है: पूर्वदृष्टपदार्थ के सदृश पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ में स्मृति जैसा ज्ञान अध्यास है। उदाहरणतया उपयुक्त प्रकाश के अभाव में हवा से हिलती हुई सामने पड़ी हुई रस्सी में पहले देखे

हुए सर्प के सदृश सर्प की प्रतीति होना रस्सी में सर्प का अध्यास है। श्रीशंकराचार्य ने अध्यास का सरल लक्षण भी दिया है: 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' जो वह नहीं है उसमें उसकी बुद्धि (ज्ञान) अध्यास है जैसे रस्सी सर्प नहीं है तो रस्सी में सर्प की प्रतीति अध्यास है। अधिष्ठान के सम्यक् ज्ञान का अभाव अध्यास का कारण होता है। उचित प्रकाश के अभाव में जब रज्जु का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है तब उसमें हमें सर्प की प्रतीति हो जाती है और भ्रमजन्य सर्प के कारण हममें भय आदि उत्पन्न हो जाते हैं और भय आदि के कारण हम उस स्थान से भागने लगते हैं। वैसे ही परमसत्य के सम्यक् ज्ञान के अभाव में ब्रह्म में जगत् की प्रतीति वास्तविक लगती है और सांसारिक पदार्थों तथा सम्बन्धों में मोह-ममता आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे पर्याप्त प्रकाश में रज्जु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर सर्प के कारण उत्पन्न भय आदि नष्ट हो जाते हैं और भय के कारण होने वाली उस स्थान से पलायन करने वाली क्रिया भी नहीं होती। ठीक उसी प्रकार परमसत्य का सम्यक् ज्ञान होने पर संसार के पदार्थों में तथा सम्बन्धों में मोह ममता नहीं रहती।

अध्यास का स्वरूप समझने के बाद अब हम स्वरूपाध्यास तथा संसर्गाध्यास के विषय में विचार करते हैं। रस्सी में सर्प का संसर्गाध्यास तथा स्वरूपाध्यास दोनों हैं। परन्तु सर्प की प्रतीति में स्वरूपतः अज्ञात होने के कारण रस्सी का केवल संसर्गाध्यास है। इसी प्रकार अन्तःकरण तथा उसके धर्म सुख, दुःख आदि आत्मा में स्वरूपतः तथा संसर्गतः दोनों प्रकार से अध्यस्त होते हैं। परन्तु आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अन्तःकरण में आत्मा का केवल संसर्गाध्यास होता है स्वरूपाध्यास नहीं। यदि आत्मा का अन्तःकरण आदि में संसर्गाध्यास न माने तो जड़ पदार्थों में चेतनता की कभी संभावना ही नहीं बन पायेगी और अन्तःकरण आदि जो चैतन्ययुक्त प्रतीत होते हैं, उसकी संगति नहीं बैठ पायेगी। यह अध्यास परस्पराध्यास है। जैसे अग्नि के दाहकत्व का तप्त लोहे के गोले में अध्यास होता है और लोहपिण्ड के वर्तुलत्व का अग्नि में। इस प्रकार दोनों में परस्पर अध्यास होता है। आत्मा तथा अन्तःकरण में उसी प्रकार का अन्योन्याध्यास मानना आवश्यक है। अन्तःकरण के अध्यास के कारण आत्मा में कर्तृत्व आदि की प्रतीति होती है। आत्मा के संसर्गाध्यास के कारण अन्तःकरण में चेतनता की प्रतीति होने में कोई विसंगति नहीं रहती है। यह जड़ तथा चेतन की ग्रन्थि इतनी प्रगाढ़ है कि अनेक जन्मों में प्रयत्न करने पर भी सुलझती नहीं है। इस ग्रन्थि को खोलने के लिये जिस प्रकार का प्रयत्न अपेक्षित है वह योगसूत्र 1. 14 में प्रतिपादित किया गया है — स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः "दीर्घकाल तक निरन्तर तथा सत्कारपूर्वक करने पर ही वह अभ्यास दृढ़ हो पाता है"। इसके साथ-साथ इस लोक तथा परलोक के विषयों के प्रति वितृष्णा में भी मन का पक्का हो जाना अत्यन्त अनिवार्य है।

श्रुति में प्रतिपादित श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्रक्रिया से भी अन्तःकरण को निर्मल किया जा सकता है। पहले यह आवश्यक है कि हम सद्गुरु से सुन कर या उपनिषदों के अध्ययन से परम सत्य के विषय में बौद्धिक ज्ञान (intellectual comprehension) प्राप्त कर लें। तदनन्तर श्रुत ज्ञान में उठने वाले संदेहों का निवारण करना पड़ता है। संशयों का निवारण करने के लिये युक्तियों का सहारा लेना होता है। युक्तियों से परम सत्य के विषय में व्यक्ति में उठने वाले संदेह निवृत्त हो जाते हैं और परमसत्य के विषय में होने वाली असंभावना की भी निवृत्ति हो जाती है। यह मनन की प्रक्रिया है। इस प्रकार परम तत्त्व में दृढ़ विश्वास हो जाने के पश्चात् व्यक्ति विपरीत भावना को दूर करने के लिये दीर्घ काल तक और सत्कारपूर्वक निदिध्यासन के पथ पर चलने का अभ्यास करता है। इस प्रक्रिया से भी आत्मविषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है तथा आत्मा के स्वरूप का अपरोक्ष अनुभव हो जाता है। इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार होने पर भ्रम, मोह, संशय आदि भी नष्ट हो जाते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि साधक में इस प्रकार की मानसिक तैयारी तथा उसके अनन्तर मन को एकाग्र करने की योग्यता सद्गुरु की कृपा के बिना संभव नहीं है। सद्गुरु का मिलना भी पूर्व जन्मों में किये हुए सत्कर्मों के बिना असंभवप्राय है। हमारा परम सौभाग्य है कि हमें भगवत्स्वरूप बाबा श्रीमस्तरामजी के दर्शन हुए। यह 'आत्मचिन्तनम्' सद्गुरु से अनुग्रह के रूप में हमें प्राप्त हुआ है। बाबाश्रीमस्तरामजी की यह कृति उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र क्रमशः श्रुति, स्मृति तथा तर्क - इन तीनों प्रस्थानों का सार है। ज्ञान के साथ-साथ इसमें भक्ति का भी प्रतिपादन हुआ है। यदि हम बाबा श्रीमस्तरामजी के द्वारा प्रोक्त 'आत्मचिन्तनम्' का अध्ययन करके इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों से अनुप्राणित उपायों को अच्छी तरह समझ कर उनको आत्मसात् करके जीवन में उतारने के लिये समुचित अभ्यास करते हैं तो यह निश्चित है कि हमें परम पुरुषार्थ की प्राप्ति करने में अवश्य सफलता मिलेगी।

'आत्मचिन्तनम्' में इक्कीस श्लोक हैं। पहले श्लोक में परमतत्त्व के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों की वन्दना की गई है। इसमें अध्यारोप-अपवाद न्याय का स्पष्ट संकेत है। इस श्लोक से मंगलाचरण के साथ भक्ति की आवश्यकता भी बताई गयी है। दूसरे श्लोक में परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथा परमात्मा में परस्परविरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों में संगति तथा सामञ्जस्य की व्यवस्था भी की गई है जो 'आत्मचिन्तनम्' की प्रस्तुत व्याख्या में और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। प्रथम श्लोक दूसरे श्लोक के साथ मिलकर आत्मचिन्तनम् की विषयवस्तु का ज्ञान कराता है। तीन से सत्रह तक के 15 श्लोक पाँच त्रिकों में उपनिबद्ध है। पहले त्रिक का विषय 'आत्मा का स्वरूप' है अर्थात् इस त्रिक में आत्मा की सत्ता का निरूपण किया गया है। यह भी बताया गया है कि जीवात्मा स्वयंप्रकाश है

तथा सकल जगत् उसी की ज्योति से ही प्रकाशित होता है। साथ ही साथ यह त्रिक आत्मा के देह तथा संसार के साथ सम्बन्ध का परिचय कराके यह ज्ञान कराता है कि आत्मा ही सबका सार है। दूसरे त्रिक में (छठे, सातवें तथा आठवें श्लोकों में) यह प्रतिपादित किया गया है कि जगत् का मूल कारण अज्ञान है तथा आत्मा साक्षी है और नित्य है। पारमार्थिक ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान के अन्तर की सूचना भी इसी त्रिक में उपलब्ध होती है। त्रिपुटी ज्ञान भी अज्ञान का ही कार्य है जबकि ब्रह्मरूप ज्ञान त्रिपुटी ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। यह अद्वैतवेदान्त का एक विलक्षण सिद्धान्त है। व्याख्या में इसका स्पष्ट विवेचन किया गया है। इसी त्रिक में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्म के द्वारा पर्जन्यरूपी अज्ञान को स्वीकार करके सृष्टि की प्रातीतिक दृश्यमानता किस प्रकार होती है? तीसरे त्रिक में यह बताया गया है कि आत्मा तथा ब्रह्म का तादात्म्य संभव है। इसमें ऐसे उपायों का भी स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है जो जीव तथा ब्रह्म के तादात्म्य को वास्तविक बनाने में सहायक हैं? चौथे त्रिक में बौद्ध मत के शून्यवाद का खण्डन करते हुए आत्मा के निरुपाधिक स्वरूप से परिचय कराया गया है। साथ ही इस त्रिक में बाबा श्रीमस्तरामजी का समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी स्पष्ट हुआ है क्योंकि वे कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म भक्त की इच्छा के अनुसार सगुण रूप भी धारण करते हैं। पाँचवे त्रिक में आत्मा के प्रणवात्मक स्वरूप का विवेचन है जिसका माण्डूक्य उपनिषद् तथा माण्डूक्य कारिका में विशद् प्रतिपादन है। अट्ठारहवें श्लोक में परम तत्त्व के संविदात्मक स्वरूप का चित्रण है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि वह सदा ही प्रकाशमान रहता है। वह ज्ञात तथा अज्ञात से ऊपर है और सब प्रकार से पूर्ण स्वरूप वाला है। उपनिषदों में 'नेति नेति' निषेधद्वारा[16] भी ब्रह्म का

16. निषेधद्वारा वस्तुप्रतिपादनम् — यथा 'नेति नेती'ति प्रपञ्चं निषिध्य अन्यत्परमस्तीति ब्रह्म प्रतिपादितम्। माण्डूक्योपनिषद् पर शांकरभाष्य के मङ्गलाचरण के द्वितीय श्लोक में निषेधात्मक शैली में बहुत ही प्रभावशाली ढंग से परमतत्त्व से प्रार्थना की गई है :

यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान् पश्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः।।

"जो परमेश्वर (जाग्रदवस्था में) किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न भोगों को भोगकर (स्वप्नकाल में) स्ववुद्धि से परिकल्पित सूक्ष्म विषयों को (बाहर की सूर्यादि की भौतिक ज्योति के अभाव में) अपने ही प्रकाश में भोगता है तथा फिर शनैः-शनैः इन सब को अपने में स्थापित करके सकल विशेषों को त्याग कर निर्गुण स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। ऐसा तुरीय परमात्मा हमारी रक्षा करे।"

माण्डूक्योपनिषद् पर ही शांकरभाष्य के मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में विध्यात्मक प्रक्रिया से पर ब्रह्म की वन्दना की गई है :

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान् भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत् तन्नतोऽस्मि।।

"जो (जाग्रदवस्था में) चराचर को व्याप्त करने वाली ज्ञानकिरणों के विस्तार से सकल लोकों को व्याप्त कर स्थूल विषयों को भोगने के अनन्तर पुनः (स्वप्नावस्था में) बुद्धि से प्रकाशित वासना से उत्पन्न होने वाले समस्त भोगों को भोगकर माया से हम जीवों को भोग कराते हुए (तथा स्वयं) आनन्द का भोग करते हुए सोता है और जो परम अमृत तथा अजन्मा ब्रह्म माया के कारण तुरीय (चतुर्थ) संख्या वाला है, उस परमब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं।"

'आत्मचिन्तनम्' के मंगल श्लोक में दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ सूचित होती हैं।

प्रतिपादन हुआ है। उसका संकेत भी हमें इसी श्लोक में मिलता है। आगम-निगम शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही 'आत्मचिन्तनम्' में प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार उन्नीसवां श्लोक आत्मविषयक चिन्तन की श्रुति-स्मृतिमूलकता, वरीयता तथा सद्गुरु की असीम कृपा का बोध कराता है। बीसवें श्लोक में दो संकेतों के द्वारा यह बताया गया है कि आत्मोपलब्धि कैसे की जा सकती है तथा इक्कीसवें श्लोक में अज्ञानी तथा आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न की तुलना करके आत्मज्ञान का फल बताया गया है।

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः।।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।। ।।नमः परमर्षिभ्यः सद्गुरुभ्यः।।

अथ आत्मचिन्तनम्

ॐ नमोऽनन्ताय नित्याय निरस्ताध्यस्तधर्मिणे।
[17]पुरुषायाप्रमेयाय नमस्ते हेतुहेतवे।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — अनन्ताय = अन्तरहित को अथवा उसको जिसका कार्य विद्यमान न हो उसको, नित्याय = जो कार्य नहीं है उसको अथवा सनातन को, निरस्ताध्यस्तधर्मिणे = जो अध्यस्त धर्मों से रहित है उसको अथवा जीव की उपाधि से रहित को, नमः = प्रणाम। हेतुहतवे = हेतु के हेतु अर्थात् प्रकृति के प्रेरक को, अप्रमेयाय = अचिन्त्य को अर्थात् जो बुद्धि का विषय नहीं है उसको, पुरुषाय = हृदय गुहा (पुरी) में रहने वाले को, नमः = प्रणाम।

अनुवाद :- अनन्त, नित्य, जिसमें से अध्यस्त धर्म निरस्त हो गये हैं उसको प्रणाम। प्रकृति के प्रेरक को, जो हृदय देश में रहने वाला है उस अचिन्त्य (अवाङ्मनसगोचर) परम पुरुष को प्रणाम।

व्याख्या :- यद्यपि समस्त 'आत्मचिन्तनम्' मंगलमय है तथापि प्रथम श्लोक और अधिक मंगलमय बन गया है क्योंकि इसमें ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण दोनों स्वरूपों की वन्दना की गई है। यहाँ नमस्कार तथा वस्तुनिर्देशरूप मंगल का सम्पादन किया गया है। श्रीशंकराचार्य[18] ने अकार्य को नित्य कहा है क्योंकि अकार्य का कोई कारण नहीं होता जिसमें उसका लय हो जाये। 'निरस्ताध्यस्तधर्मिणे'

17. कालेनानवच्छिन्नाय (पाठान्तर)।
18. अकार्यत्वान्नित्यम् ; न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत। कठोपनिषद् 1.3.15 पर शांकरभाष्य।

समस्तपद व्याख्या की अपेक्षा रखता है। इससे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य का स्मरण भी हो रहा है क्योंकि अध्यासशब्द का सम्बन्ध उनके अध्यासभाष्य से है। ब्रह्म में कोई भी धर्म नहीं रहता है। इसको समझने के लिये हम एक उदाहरण लेते हैं। जब सीप में रजत (चाँदी) का भ्रम होता है तो सीप में रजतत्वधर्म का अध्यारोप होता है अर्थात् सीप में रजतत्व धर्म अध्यस्त है। ठीक इसी प्रकार अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य जगत् आदि ब्रह्म में अध्यारोपित हैं अर्थात् अध्यस्त हैं। सगुण ब्रह्म में अध्यस्त धर्म रहते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु निर्गुण ब्रह्म में अध्यस्त धर्म रहते ही नहीं। प्रथम पंक्ति में निर्गुण ब्रह्म की वन्दना की गई है। इसलिये निर्गुण ब्रह्म ऐसा है जिसमें से अध्यस्त धर्म निरस्त हो गये हैं। इस प्रकार प्रथम पंक्ति में अध्यारोपित धर्मों से मुक्त निर्गुण ब्रह्म को प्रणाम किया गया है। 'नित्य' शब्द से यह सूचित होता है कि ब्रह्म ऐसा सत्य है जिसकी सत्ता तीनों कालों में रहती है। 'अनन्त' शब्द का अर्थ है अन्तरहित अथवा वह जिसका कार्य विद्यमान न हो जैसे केले के वृक्ष के फलरूप कार्य होने के कारण केले का वृक्ष अनित्य है ब्रह्म का ऐसा कोई कार्य नहीं होता है इसलिये ब्रह्म अनन्त है[19]। 'अन्त' शब्द सामान्यतया काल तथा देश के साथ जुड़ता है। जब 'अन्त' शब्द काल के साथ लगेगा तब अनन्त का अर्थ होगा ऐसा काल जिसका कोई अन्त नहीं है अर्थात् नित्य। श्लोक में अनन्ताय के बाद 'नित्य' शब्द आया है। इसलिये पुनरुक्ति दोष का परिहार करने के लिये 'अन्त' शब्द का सम्बन्ध देश (space) के साथ करना उचित रहेगा। इस प्रकार अनन्त का अर्थ होगा ऐसे देश वाला जिसका कोई अन्त ही न हो अर्थात् सर्वव्यापक[20]। इस तरह 'अनन्ताय' शब्द का अर्थ होगा 'सर्वव्यापक ब्रह्म को'। दूसरी पंक्ति में सगुण ब्रह्म की वन्दना की गई है। 'अप्रमेय' शब्द का अर्थ है जो प्रमा का विषय नहीं है अर्थात् जो अचिन्त्य है, जो मन का विषय नहीं बन सकता है अर्थात् जो अवाङ्मनसगोचर है, उसको प्रणाम। जो हेतु का भी हेतु है। प्रथम 'हेतु' शब्द से प्रकृति का ग्रहण किया गया है तथा दूसरे 'हेतु' शब्द से प्रकृति का प्रेरक लिया गया है। इस प्रकार 'हेतुहेतवे' का अर्थ हुआ जो प्रकृति को भी सृष्टि करने के लिये प्रेरित करता है उस हृदयरूपी पुर में रहने वाले परमपुरुष को प्रणाम। परमात्मा मेरा वरण करें - इस आशय से नमस्कार किया गया है क्योंकि वे जिसका वरण करते हैं उसी का मोक्ष होता है जैसा कि श्रुति में कहा गया है "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" (कठोपनिषद्, 1.2.23)। अतः प्रथम मंगल श्लोक के द्वारा सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म के दोनों रूपों को नमन किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ ज्ञान तथा भक्ति दोनों का समन्वय अभीष्ट है।

19. अनन्तम् अविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं दृष्टम्। कठोपनिषद् 1.3.15 पर शांकरभाष्य।

20. आकाशादिकारणत्वात्सर्वगतं ब्रह्म। तैत्तिरीयोपनिषद् 1. 11. 4 पर शांकरभाष्य।

प्रथम श्लोक में जिस परम तत्त्व की वन्दना की गई है उसके स्वरूप से परिचय कराया जा रहा है :

सर्वाश्रयः सकलसर्गमयोऽव्ययश्च
सर्वेश्वरः सफलकर्मकलोऽक्रियश्च।
सर्वान्तरः सततशान्तिवहोऽवकाशः
जिज्ञास्यतेऽमृतपदाय परात्परो ज्ञः।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — सर्वाश्रयः = जो सबका आधार है, सकलसर्गमयः = सकल सृष्टि जिसका शरीर है, अव्ययः = विकाररहित, जिसमें कोई क्षय नहीं होता है, सर्वेश्वरः = जो सब पर शासन करता है, सफलकर्मकलः = सफल ही कर्म करने की कला (कुशलता) से युक्त, अक्रियः = क्रियारहित या निष्क्रिय, सर्वान्तरः = सबके अन्दर रहने वाला अर्थात् सबका सार, सततशान्तिवहः = सदैव शान्ति वहन करने वाला, अवकाशः = अनवरुद्ध, सर्वत्र व्याप्त, परात्परः = प्रकृति से भी परे, ज्ञः = शुद्ध ज्ञानस्वरूप, अमृतपदाय = अमरपद अर्थात् मोक्ष के लिये, जिज्ञास्यते = जिसको जानने की इच्छा की जाती है।

अनु॰ :- (वह परम तत्त्व) सबका आधार है। सारी सृष्टि उसका शरीर है (परन्तु फिर भी) वह अविकारी है। वह सबका नियन्ता है और (सृष्टि आदि) सफल कर्म करने की कला से युक्त होते हुए (भी) निष्क्रिय है अथवा जीवों को कर्मानुसार फल देने में कुशल होते हुए भी स्वयं क्रियारहित है। सबके भीतर साररूप से रहते हुए वह निरन्तर शान्ति का वहन करने वाला है अर्थात् सतत शान्तिरूप है। वह अनवरुद्ध (बिना किसी अवरोध के सर्वत्र व्याप्त) है अर्थात् वह सर्वव्यापक है। शुद्ध ज्ञानस्वरूप (ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञानरूप त्रिपुटी से सर्वथा रहित) है। वह प्रकृति से भी परे है और अमर पद अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये उसकी जिज्ञासा की जाती है (अर्थात् मुक्ति की उपलब्धि के हेतु जिसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये वेदान्त वाक्यों पर विचार किया जाता है)।।2।।

व्याख्या :- जीवनयापन करते हुए जब हम यह विचार करते हैं कि हमारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है तो बरबस हमारा ध्यान इस जगत् में दिखाई देने वाली विचित्रता तथा इस विश्व के निर्माता की ओर चला ही जाता है। मानव शरीर की रचना, इन्द्रियों के व्यापार, मस्तिष्क के काम करने की प्रक्रिया, जीवन जीने के तरीके तथा उसके द्वारा बनाई हुई सृष्टि की अनिर्वचनीय विविधता से हम अचम्भित हो जाते हैं और इसलिये हम सब दृश्यमान विविधता के विषय में जानने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिये हम अनेक शास्त्र पढ़ते हैं और बौद्धिक

रूप से ब्रह्म के स्वरूप तथा उसकी सृष्टि के स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं। बाबाश्री ने 'आत्मचिन्तनम्' के इस श्लोक में व्यक्ति का ध्यान परम तत्त्व की ओर आकृष्ट किया है। साक्षात्कारसम्पन्न महापुरुष ही इस प्रकार से अधिकारपूर्वक उस परम तत्त्व का स्वरूप भाषा में व्यक्त करते हैं ताकि उनके सम्पर्क में आने वाले संवेदनशील तथा अन्तर्वीक्षण (introspection) में अभ्यस्त जिज्ञासु जन उसके स्वरूप का कुछ चिन्तन अपने मन में कर सके और फिर उसके स्वरूप को जानने के लिये उस दिशा में मनन-ध्यान करना प्रारम्भ कर दें।

यदि परमतत्त्व में हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है तो यह आसानी से समझ में आ जाता है कि परमतत्त्व ही सबका आधार है। बाबाश्री ने 'आत्मचिन्तनम्' के इस श्लोक में परमतत्त्व का 'सर्वाश्रयः' तथा 'सकलसर्गमयः' के रूप में उल्लेख किया है। बाबाजी के इस कथन का अभिप्राय समझने के लिये इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान देना उचित रहेगा। परमतत्त्व की परिच्छिन्नता के निवारण के लिए 'सर्वाश्रयः' पद दिया गया है क्योंकि वह पृथिवी से लेकर अव्यक्त (प्रकृति) पर्यन्त सबका आश्रय है। जैसे समुद्र तथा तरंगों में अभेद सम्बन्ध है वैसे ही परमात्मा तथा प्रपञ्च में अभेद है। इस प्रकार प्रपञ्च की परमात्मरूपता बताने के लिये परमात्मा को 'सकलसर्गमयः' कहा गया है जिसका अर्थ है सारी सृष्टि ही जिसका शरीर है। इस शब्द से श्रीमद्भगवद्गीता का एकादश अध्याय स्मृतिपटल पर आ जाता है। अर्जुन ने भगवान् से प्रार्थना की 'हे पुरुषोत्तम! मैं आपका ईश्वरीय विश्वरूप देखना चाहता हूँ' (द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम, भ. गी. 11.3)। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम अपने इन नेत्रों से मुझे (मेरे विराट् रूप को) नहीं देख सकते इसलिये मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ (न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। भ. गी. 11.8)। श्रीमद्भगवद्गीता का यह अंश पठनीय है जिसमें अद्भुत विशाल विश्व के रूप में भगवान् अर्जुन को दिखाई देने लगे। इसमें महाभारत के युद्ध में विद्यमान समस्त योद्धा भी दिखाई दे रहे थे। बिना जाने हम भी उसी प्रकार उस परम तत्त्व में वैसे ही चल फिर रहे हैं। यदि सचमुच में हमें वैसा ही रूप देखने को प्राप्त हो जाये तो हमारे मन की स्थिति भी वही हो जायेगी जैसी अर्जुन की हुई थी। अर्जुन भयभीत हो गया था और भावविभोर होकर स्तुति करने लगा और भगवान् से विनय की 'हे प्रभो! मुझे अपना वही पूर्वरूप दिखाइये'। बाबाश्री 'सकलसर्गमयः' शब्द से वही भाव प्रकट कर रहे हैं। लेकिन साथ ही यह भी कह रहे हैं कि इस विराट्-रूप में नश्वरता की आशंका हो सकती है। इसी आशंका को दूर करने के लिये परमात्मा को विकाररहित (अव्यय) कहा गया है। वे सब के ऊपर शासन करने वाले हैं तथा जीवों को कर्मानुसार फल देने में कुशल होते हुए भी स्वयं क्रियारहित हैं या ऐसे भी कहा जा सकता है कि सृष्टि आदि सफल कर्म

करने के कौशल से युक्त होते हुए भी वे निष्क्रिय हैं। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा मन की एकाग्रता - इन साधनभूत भावों से सम्पन्न होने पर जिज्ञासु का चित्त शुद्ध हो जाता है और यह चित्तशुद्धि ही ईश्वर के मन्दिर का मुख्य द्वार है अर्थात् चित्त की शुद्धि से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

परम ब्रह्म सबके अन्दर रहने वाले हैं अर्थात् सबके हृदय देश में निवास करने वाले हैं। ऐसा कहने से परमेश्वर देशावच्छिन्न प्रतीत होने लगते हैं। इस विसंगति को दूर करने के लिये इस पद्य में 'अवकाश' शब्द का प्रयोग किया गया है। अवकाश का सामान्य अर्थ है 'रिक्त स्थान' और आकाश अवकाश[21] देने वाला होता है जिसकी कोई सीमा ही नहीं होती अर्थात् जो सर्वव्यापी है। इससे देशावच्छिन्नता की प्रतीति दूर हो जाती है। अवकाश को आकाश के पर्याय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है[22]। इसको समझने के लिये छान्दोग्य उपनिषद् 8.1.1 में प्रतिपादित दहरविद्या के विषय में परिचय प्राप्त करना उपयोगी रहेगा : अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति "इस ब्रह्मपुर में जो छोटे कमल के आकार का स्थान है उसमें जो सूक्ष्म आकाश है उसके अन्दर जो वस्तु है उसको ढूँढना चाहिये उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिये।" उपनिषद् में आगे इस हृदय के अन्दर विद्यमान आकाश को बाहर दिखाई देने वाले भौतिक आकाश के समान बताया गया है तथा आगे यह भी कहा गया है कि द्युलोक और पृथिवी इसी के अन्दर समाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत, जो यहाँ नहीं है और जो यहाँ है, वह सब कुछ इसके भीतर ही है।[23] छान्दोग्य उपनिषद् के इस उद्धरण से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि जो सबके हृदय देश में रहता है उसके अन्दर ही सब कुछ विद्यमान है। वह परमतत्त्व अवकाशस्वरूप है अर्थात् बिना किसी प्रतिबन्ध के सर्वत्र व्याप्त है और वह सतत शान्ति का वहन करने वाला है। 'शान्ति' शब्द से भौतिक तथा मानसिक व्यापारों का अभाव लिया जाना चाहिये क्योंकि ब्रह्म में कोई क्रिया नहीं होती है, न मानसिक और न ही भौतिक तथा शारीरिक क्रिया। वृत्तियों का पूरी तरह निरोध होने पर पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, ऐसा योगदर्शन में बताया गया है (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्, योगसूत्र, 1.3)। 'सतत शान्ति वहन करने' से सब वृत्तियों की आत्यन्तिक रूप से निरुद्ध अवस्था का निर्देश किया गया है। मानसिक क्रियाओं के अभाव के समान उसमें शारीरिक क्रियाओं का भी अभाव होता है। इस प्रकार नैष्कर्म्य ही उसका स्वरूप है। इसी

21. आकाशो नाम शब्दगुणः अवकाशकरो मूर्तद्रव्याणाम्। तैत्तिरीयोपनिषद् 2.1.1 पर शांकरभाष्य।

22. अत्र अवकाशपदस्य अर्थः प्रतिबन्धरहित आकाश एव। 'आत्मचिन्तनस्य उपक्रम उपसंहारश्च', पृ. 19.

23. यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति। छान्दोग्योपनिषद् 8.1.3.

तथ्य को समझाने के लिये ही श्लोक में परमतत्त्व को सतत शान्ति का वहन करने वाला चित्रित किया गया है। निष्कर्ष यह है कि सबके अन्दर रहने वाला परमतत्त्व सदा शान्त अर्थात् अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है।

वह प्रकृति से भी परे है अर्थात् प्रकृति का भी अधिपति है। वह ज्ञानस्वरूप है। अमृतत्व को प्राप्त करने के लिये अर्थात् अज्ञान से निवृत्त होकर ब्रह्मसाक्षात्कार करने के लिये उसको जानने की इच्छा की जाती है अर्थात् वेदान्त वाक्यों पर विचार किया जाता है (देखें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', ब्रह्मसूत्र, 1.1.2) क्योंकि ब्रह्मानुभूति में ही जीव का सच्चिदानन्द के साथ तादात्म्य होता है और यही परम पुरुषार्थ है।

प्रथम त्रिक में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया जा रहा है। सभी अपने अस्तित्व को मानते हैं। यदि कोई अपने अस्तित्व को नकारता है तो जो निराकर्ता है उसका होना ही उसके आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है जैसा कि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी कहा है (आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्) "आत्मा को नकारा नहीं जा सकता है। जो आत्मा का निराकरण करता है वह निराकरण करने वाला ही आत्मा है।"

आस्तिके नास्तिके चास्ति सुषुप्ते जागृतेऽपि च[24]।
स्वभूतोऽयं स्वतःसिद्ध आत्मा कैर्नैव मन्यते।
आत्मा सर्वैर्हि मन्यते ।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — आस्तिके = आस्तिक में, नास्तिके = जो आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व में आस्था नहीं रखता, उसमें, च = और, अस्ति = है, सुषुप्ते = सोये हुए में, जागृते = जागे हुए में, च = और, अपि = भी, (अस्ति = है)। कैः = किनके द्वारा, अयम् = यह, स्वभूतः = स्वरूपभूत, स्वतःसिद्धः = स्वयं प्रमाणित, आत्मा = आत्मा, न एव = नहीं ही, मन्यते = माना जाता है (जो आत्मा का निषेध करता है, वह स्वयं को स्वीकार करके ही ऐसा करता है), आत्मा = आत्मा, सर्वैर्हि = सब ही के द्वारा, मन्यते = माना जाता है।

अनु॰ :- आत्मा आस्तिक तथा नास्तिक दोनों में विद्यमान है। यह सुषुप्ति तथा जाग्रत् दोनों अवस्थाओं में रहता है (स्वप्नावस्था में भी)। आत्मा अपना स्वरूप ही है। अतः स्वतः प्रमाणित है। किन व्यक्तियों के द्वारा (ऐसा आत्मा) स्वीकृत नहीं किया जाता है? (अर्थात् ऐसे) आत्मा का अस्तित्व सबके द्वारा ही स्वीकार किया जाता है।।3।।

24. सुप्ते जागरितेऽपि च। पाठान्तर।

व्या० :- आत्मा की नित्यता में विश्वास न करने वाले व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान नहीं हो पाता जैसा भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यत्न करने पर भी नास्तिक को अपने हृदय में स्थित आत्मा का बोध नहीं हो पाता जबकि योगियों को यत्न करते हुए हो जाता है "यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥" भ. गी. 15.11. नास्तिक यह भी कह सकता है कि सुषुप्तिकाल में तो आत्मा नहीं रहता। परन्तु सुषुप्ति से जागने के पश्चात् यह स्मृति तो होती है कि 'सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम् = मैं सुखपूर्वक सोया, मैंने कुछ नहीं जाना'। इस स्मृति का होना यह निश्चित करता है कि ऐसा अनुभव हुआ था। यदि सुषुप्तिकाल में अनुभव हुआ था तो फिर अनुभविता का अस्तित्व स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है। जो हमें प्रत्यभिज्ञा होती है कि जो मैं सोया था वही मैं इस समय उठा हूँ। इस प्रत्यभिज्ञा से भी मेरी अपनी सतत विद्यमानता सिद्ध होकर सुषुप्ति काल में भी मेरी सत्ता सिद्ध हो ही जाती है। इससे बाबाजी का यह कथन कि आत्मा सुषुप्तावस्था तथा जाग्रदवस्था दोनों में रहता है, सिद्ध हो जाता है। ऐसा सिद्ध होने पर स्वप्नावस्था में भी आत्मा का अस्तित्व असिद्ध नहीं रहेगा। इसलिये आत्मा को स्वतःसिद्ध कहना अनुचित नहीं है और यह कहना भी अनुचित नहीं है कि सब लोग आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

प्रेमास्पद् आत्मा सब प्राणियों के शरीर में विद्यमान है। इसकी सत्ता के कारण ही सब प्राणी अपने-अपने शरीर से प्रेम करते हैं तथा उसमें संतुष्ट रहते हैं। चतुर्थ श्लोक यह बताता है कि स्पष्ट रूप से लक्षित प्रेमास्पद् आत्मा सबके द्वारा स्वीकार किया जाता है।

यतः प्रीताश्च तृप्ताश्च स्वेषु देहेषु जन्तवः।
प्रेमास्पदं सुसंलक्ष्य आत्मा कैर्नैव मन्यते।
आत्मा सर्वैर्हि मन्यते ।।4।।

अन्वय तथा अर्थ — जन्तवः = सब प्राणी, स्वेषु = अपने, देहेषु = शरीरों में, यतः = जिस (आत्मा) से, प्रीताः च = और प्रसन्न हैं, तृप्ताः च = और तृप्त हैं। (वह) प्रेमास्पदम् = प्रेम का आश्रय, सुसंलक्ष्यः = सम्यक् रूप से लक्षित होने वाला अर्थात् अपरोक्ष अनुभूति का विषय बनने वाला, आत्मा = आत्मा, कैः = किन लोगों के द्वारा, न एव = नहीं ही, मन्यते = माना जाता है, अर्थात् सर्वैर्हि = सब ही के द्वारा, मन्यते = माना जाता है।

अनु० :- आत्मा प्रेम का आधार (स्रोत) है (इसी से सब प्राणियों को सुख तथा सन्तोष प्राप्त होता है परन्तु अज्ञानवश सुख तथा सन्तोष का स्रोत हम अपने

शरीर को समझते हैं अतः) अपने शरीरों में प्रसन्न और तृप्त रहते हैं। सुन्दर स्वरूप वाला आत्मा (सुख तथा सन्तोष के कारण) अच्छी तरह समझा जा सकता है। ऐसे आत्मा को कौन नहीं मानेगा? अर्थात् सब ही ऐसे आत्मा को स्वीकार करेंगे।।4।।

व्या॰ :- एक कीड़ा भी अपने शरीर की रक्षा के लिये प्रयत्न करता है। इस प्रकार का प्रयास अन्दर चिद्रूप आत्मा के रहने पर ही होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी संवाद में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को बताते हैं कि सब वस्तुएं आत्मा के लिये ही प्रिय होती हैं। (आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.5) इस उपनिषद् के वाक्य पर श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा ही प्रिय है, अन्य नहीं। प्रीति का साधन होने के कारण शेष में गौणी प्रीति होती है, आत्मा में ही मुख्य प्रीति होती है (आत्मैव प्रियं नान्यत्। तस्मादात्मप्रीतिसाधनत्वात् गौणी अन्यत्र प्रीतिः)। यद्यपि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के संघात को ही आत्मा समझ कर हम अपने आप से प्रेम करते हैं। पति पत्नी आदि से प्रेम अपने लिये ही करते हैं, पत्नी आदि के लिये नहीं और पत्नी आदि पति से प्रेम अपने लिये करती हैं, पति के लिये नहीं। वास्तव में शरीर आदि भी स्वयं (आत्मा) के लिये ही प्रिय हैं। आत्मा के कारण शरीर आदि हमें प्रिय लगते हैं। वास्तव में आत्मा ही प्रेम का स्रोत है। अपने वास्तविक स्वरूप को हम सम्यक् रूप से नहीं जानते हैं इसलिये हम अज्ञान की स्थिति में सुख आदि शरीर आदि में ही ढूँढते रहते हैं। याज्ञवल्क्य ने आत्मा को सुख, प्रेम आदि का आधार बता कर मैत्रेयी को आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश दिया और कहा कि आत्मा के ज्ञात होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। प्रस्तुत श्लोक में आत्मा को सुसंलक्ष्य कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को सम्यक् रूप से जानने का प्रयत्न अवश्य ही चाहिये। इसलिये आत्मा की सत्ता में दृढ़ विश्वास रखकर, उसका सत्कारपूर्वक मनन चिन्तन करने से अन्तःकरण को शुद्ध करके आत्मा को ही अपरोक्ष अनुभूति का विषय बना लेना चाहिये। यही परम पुरुषार्थ है।

अग्रिम श्लोक में यह बताया जा रहा है कि आत्मा की सत्ता सर्वत्र अनुस्यूत है और इसलिये वह सबका सर्वस्व है।

यस्य भासा विभातीदं भावेऽभावे भवोऽभवः।
सर्वेषामेव सर्वस्वम्, आत्मा कैर्नैव मन्यते।
आत्मा सर्वैर्हि मन्यते।।5।।

अन्वय तथा अर्थ — यस्य = जिसके, भासा = प्रकाश से, इदम् = यह (जगत्), विभाति = प्रकाशित होता है, भावे = जिसके होने पर, भवः = (सब) है, अभावे = (जिसके) न होने पर, अभवः = (सबका) अभाव है, (अतः वह आत्मा) सर्वेषाम् = सबका, सर्वस्वम् = सब कुछ, एव = ही, (अस्ति) = (है)। (ईदृशः) = (ऐसा), आत्मा = आत्मा, कैः = किन लोगों के द्वारा, न एव = नहीं ही, मन्यते = माना जाता है, (अर्थात्) सर्वैर्हि = सब ही के द्वारा, मन्यते = माना जाता है।

अनु० :- जिसके प्रकाश से अर्थात् आत्मा के प्रकाश से यह जगत् (बाहर तथा भीतर से) प्रकाशित हो रहा है। जब तक (आत्मा की) सत्ता है (दूसरे शब्दों में जब तक आत्मा शरीर या संसार में विद्यमान है) तब तक ही शरीर या संसार का अस्तित्व है। (आत्मा के) अभाव में (अर्थात् जब आत्मा शरीर या संसार को छोड़ देता है तब शरीर या संसार भी) सत्ताहीन हो जाता है। (अर्थात् शरीर या संसार का विलय हो जाता है)।

अथवा

शरीर या जगत् के होने तथा न होने पर दोनों अवस्थाओं में आत्मा की सत्ता अक्षुण्ण रहती है फिर भी इसकी अभिव्यक्ति स्थूल नहीं होती (अभिप्राय यह है कि आत्मा वास्तव में कभी भी स्थूल शरीर या जगत् के रूप में अभिव्यक्त नहीं होता क्योंकि वस्तुतः आत्मा नीरूप है।

अथवा

श्रद्धा-भक्ति के रहने पर आत्मा की सत्ता का बोध होता है लेकिन जब श्रद्धा-भक्ति नहीं रहती तब आत्मा सत्ताहीन प्रतीत होता है। (अतः) आत्मा सबका सर्वस्व (सार) ही है। कौन ऐसे आत्मा को नहीं मानेगा? (अर्थात् ऐसे आत्मा के अस्तित्व को वास्तव में) सब लोग स्वीकार करते ही हैं।।5।।

व्या० :- आत्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है। आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने के कारण ही हमें विषयों का, पदार्थों का ज्ञान होता है। इसलिये यहाँ 'भासा' पद से चैतन्यरूप दीप्ति अभिप्रेत है, न कि भौतिक तेज। अनेक छिद्रों वाले घड़े में स्थित दीपक[25] के प्रकाश के समान प्रकाशस्वरूप चिदात्मा चक्षु आदि करणों के द्वारा बाह्य विषयों तक जाकर उनको प्रकाशित करता है अर्थात् ज्ञान का विषय बनाता है। यह तथ्य ही 'यस्य भासा विभातीदं (सकलं जगत्)' इस श्लोकांश से समझाया गया है। जैसे सूर्य आदि के प्रकाश में जागतिक पदार्थ आलोकित हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा के ज्योतिःस्वरूप होने के कारण जगत् के सकल विषय प्रकाशित होकर बोध के विषय भी बनते हैं। चिदात्मा का स्फुरण अर्थात् स्वरूपप्रकाश

25. नानाछिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरम्। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, श्लोक 4.

सदात्मक है और वह असत्कल्प पदार्थों को अपने प्रकाश से सदात्मक जैसा बनाकर आलोकित करता है[26]। इसीलिये ऐसा कहा गया है कि आत्मा के होने पर सब कुछ है और उसके न होने पर कुछ भी नहीं है। यद्यपि आत्मा का अभाव कभी नहीं होता है फिर भी अभाव की कल्पना करके आत्मा के अभाव में शेष सबके अभाव का आरोपण किया है। अभिप्राय यह है कि आत्मा की सत्ता से ही शेष सबकी सत्ता है। जो आत्मा समस्त पदार्थों का सर्वस्व (सार) है उसकी सत्ता को कौन नहीं स्वीकार करेगा? इस कथन का तात्पर्य है कि सब ही आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि यदि नास्तिक आत्मा की सत्ता का निराकरण करता है तो वह निराकर्ता ही आत्मा है।

आत्मा के अस्तित्व की प्रामाणिकता का युक्तिसहित प्रतिपादन किया जा चुका है। अब अग्रिम त्रिक के प्रत्येक श्लोक के पहले तीन चरणों में जीवात्मा का वर्णन है तथा चौथे चरण में आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिचय दिया गया है। जगत् का अज्ञानमय स्वरूप प्रथम श्लोक का प्रतिपाद्य है ।

स्वप्नान् पश्यति सुप्तो वै सुप्तेर्जागर्ति भावितः।
सुप्तिमात्रं जगद्येतद् आत्मा साक्षी सदक्षरः।।6।।

अन्वय तथा अर्थ — सुप्तः = सोया हुआ, वै = ध्यान के आकर्षण के लिये सूचक अव्यय, स्वप्नान् = स्वप्नों को, पश्यति = देखता है, भावितः = (अज्ञान तथा वासनाओं के) प्रभाव में, सुप्तेः = नींद से, जागर्ति = जागता है। एतद् = यह, जगत् = संसार, सुप्तिमात्रम् = केवल सुषुप्ति अर्थात् अज्ञानमात्र ही है, हि = ही (अस्ति) = (है)। आत्मा = आत्मा (तो), साक्षी = साक्षात् द्रष्टा, सत् = तीनों कालों में रहने वाला, अक्षरः = अविनाशी, (अस्ति) = (है)।

अनु॰ :- सोते हुए जीव स्वप्न देखता है, फिर वासनाओं के प्रभाव को लिये हुए ही नींद से जागता है। यह संसार केवल सुषुप्ति ही है (अर्थात् अज्ञानमात्र ही है)। आत्मा साक्षी (भूत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली वृत्तियों और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षात् द्रष्टा) है, वह सत्य तथा कभी नष्ट न होने वाला अर्थात् अविनाशी (है)।

व्या॰ :- 'स्वप्नान् पश्यति' इत्यादि से अवस्थाओं का अनुसंधान सूचित होता है। यह अनुसंधान आत्मचिन्तन का सहयोगी है। इन अवस्थाओं में पहली अवस्था क्या है? अवस्थाओं के परिवर्तन में क्या कारण है? स्वप्न का उपदेश क्या है? सुषुप्ति से हमें क्या शिक्षा लेनी चाहिये? ये अवस्थाएँ आत्मा की हैं या बुद्धि की। क्या तीनों अवस्थाओं के परे भी कोई अवस्था है? इनके लक्षण क्या हैं? प्रायः जाग्रत्

26. यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थगं भासते। वही, श्लोक 3.

अवस्था में अनुभूत या अननुभूत वस्तुएं स्वप्न में विचित्र प्रकार से दिखाई देती हैं। पूर्णरूप से अभिव्यक्ति के अभाव के कारण स्वप्न मायामात्र ही माना जाता है। अत एव स्वप्न में किये हुए पुण्य तथा पाप का व्यक्ति को कोई फल नहीं मिलता है। व्यक्ति सोता है तो वह स्वप्न भी देखता है। विषयेन्द्रियसंयोग के अभाव में और सूर्य आदि के आलोक के अभाव में स्वाप्न पदार्थों का दिखाई देना आत्मा की स्वयंप्रकाशता को प्रमाणित करता है।

जाग्रत् अवस्था में व्यक्ति व्यावहारिक स्तर पर कर्म करता है, अन्तर्वीक्षण भी करता है। ऐसी अवस्था में उसे बाहर होने वाली घटनाओं का तथा मानसिक स्तर पर होने वाली क्रियाओं का भी ज्ञान होता है। दोनों अवस्थाओं के व्यापारों में अन्तर होता है। जाग्रत् अवस्था में जैसी घटना घट रही है हम उसको व्यावहारिक दृष्टि से वैसे ही मान लेते हैं। परन्तु स्वप्न में होने वाली घटनाओं का स्वरूप भिन्न होता है। वे घटती तो अन्दर हमारे मन में हैं परन्तु प्रतीत ऐसे होती हैं जैसे वे बाहर घट रही हों। जीव उनका साक्षात् द्रष्टा है। सुषुप्ति में यह प्रश्न उठता है कि क्या इस अवस्था में ऐसा कुछ होता है जो जीव के साक्षात् दर्शन का विषय बने? इसी बात को सिद्ध करने के लिये स्मरण का दृष्टान्त दिया जाता है। इस स्मरण के दृष्टान्त से ही यह सिद्ध हो जाता है कि अन्तःकरण के अज्ञान में लीन होने पर भी सुषुप्ति में अज्ञानवृत्ति को विद्यमान माना गया है। सुषुप्ति में जीव परमात्मा के साथ अज्ञातभाव से एकरूप हो जाता है। अज्ञान का आवरण होने के कारण आनन्दमयता का स्पष्ट अनुभव नहीं होता जबकि समाहित स्थिति में आनन्द की स्पष्ट अनुभूति होती है। सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव होता है (न किञ्चिदवेदिषम्) तथा उसी का स्मरण सुषुप्ति अवस्था से उठने के पश्चात् होता है। इसलिये जीव को तीनों अवस्थाओं का साक्षी कहा गया। जब जीव जागता है तो अपनी वासनाओं के प्रभाव में ही जागता है। अपनी वासनाओं से प्रभावित होने के कारण वह अपने आप को पहचानता है। जो सोया था वही इस समय जाग रहा है। तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहने के कारण आत्मा को सत् कहना युक्तिसंगत है क्योंकि सत् वही है जो तीनों कालों में अबाधित रूप से विद्यमान रहता है। जैसे बाहर के पदार्थों को देखने में बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार अन्तर्वीक्षण में आत्मा के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती है। इसीलिये आत्मा को अव्यवहित द्रष्टा कहा है। त्रैकालिक विद्यमानता के कारण आत्मा अविनाशी है।

यह जगत् सुषुप्तिमात्र है। इस कथन को समझने के लिये अगले श्लोक के अर्थ को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। सुषुप्ति में अज्ञान का कार्य अन्तःकरण अज्ञान में लीन हो जाता है। इसलिये इस स्थिति को ध्यान में रखकर हम यह

कह सकते हैं कि सुषुप्ति अज्ञान ही है। यह जगत् अज्ञान का कार्य है। कार्य तथा कारण में अभेद मानकर हम इस जगत् को अज्ञान कह सकते हैं। ऊपर सुषुप्ति को अज्ञान सिद्ध किया गया है। इस प्रकार यह दृश्यमान जगत् सुषुप्ति ही है, अज्ञान ही है।

ज्ञानमज्ञानपर्यन्तं जीवनं मृत्युसंवृतम्।
स्वप्नवत् सर्वमस्पष्टम् आत्मा साक्षी सदक्षरः।।7।।

अन्वय तथा अर्थ — ज्ञानम् = वृत्तिज्ञान, अज्ञानपर्यन्तम् = अज्ञान तक अर्थात् अज्ञान की सीमा के भीतर ही है, जीवनम् = जीवन, मृत्युसंवृतम् = मृत्यु तक, मृत्यु की परिधि के अन्दर (है), सर्वम् = सब कुछ, स्वप्नवत् = स्वप्न के समान, अस्पष्टम् = अस्पष्ट, (अस्ति) = (है)। आत्मा = आत्मा, साक्षी = साक्षी, सत् = सत्य, अक्षरः = अविनाशी (है)

अनु० :- वृत्तिज्ञान अज्ञान तक है अथवा जाग्रदवस्था में व्यावहारिक ज्ञान की सीमा अज्ञान तक है। जीवन मृत्यु तक है अर्थात् मृत्यु की परिधि में है। सब कुछ (व्यावहारिक कार्यकलाप) स्वप्न की तरह अस्पष्ट है। आत्मा साक्षी, सत्य तथा अविनाशी है।।7।।

व्या० :- 'ज्ञान' शब्द से शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ज्ञान तथा वृत्तिज्ञान दोनों का बोध होता है। प्रस्तुत श्लोक में 'ज्ञान' शब्द वृत्तिज्ञान का बोधक है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय - इन तीनों की सत्ता बनी रहती है। इसे त्रिपुटीज्ञान भी कहा जाता है। यह त्रिपुटीज्ञान अज्ञान के कार्य अन्तःकरण का ही परिणाम है। जिस अन्तःकरण में चित् प्रतिबिम्बित है वह तैजस अन्तःकरण चक्षुरादिरूप प्रणाली के द्वारा विषय तक पहुंचता है घटादिविषयाकार वाला हो जाता है। इस प्रकार अन्तःकरण की विषयाकाराकारिता वृत्ति के द्वारा घटगत अज्ञान का नाश हो जाता है। तब चिदाभास के द्वारा घट का स्फुरण होता है अर्थात् घट ज्ञान का विषय बन जाता है। इस प्रक्रिया में अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य वृत्तिविशिष्ट हो जाता है। इस प्रकार बनी हुई यह वृत्ति चिद्रूप ज्ञान की अवच्छेदिका बन जाती है। ज्ञान की अवच्छेदिका होने के कारण वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार हो जाता है। ब्रह्मगत अज्ञान का नाश करने वाली अखण्डाकारवृत्ति भी अन्तःकरण का ही परिणाम है। अन्तःकरण अज्ञान का कार्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि अखण्डाकारवृत्ति भी अज्ञान का ही परिणाम है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यावहारिक वृत्तिज्ञान अज्ञान के नाश होने तक रहता है। अखण्डाकारवृत्ति से ब्रह्म के आवरक अज्ञान का नाश होता

है। इस स्थिति को ऐसे भी कहा जा सकता है कि अज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का नाश किया जाता है। इस विषय में वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि अविद्या अविद्या को उत्पन्न करती है और उसको नष्ट भी करती है - इस विषय में किसी प्रकार की कोई विसंगति नहीं है।[27] एक उदाहरण से इसे समझने का प्रयास करते हैं। हम स्वप्न में व्याघ्र देखते हैं। वह व्याघ्र अविद्या का कार्य है परन्तु व्याघ्र देख कर जब व्यक्ति भयभीत होता है तो उसका स्वप्न टूट जाता है। तब स्वप्न में दिखाई देने वाले व्याघ्र का भी नाश हो जाता है। स्वाप्न व्याघ्र जिस उपादानभूत अविद्या से उत्पन्न हुआ था वह उसी का नाश कर देता है। ठीक इस प्रकार शुद्ध अन्तःकरण के परिणाम अखण्डाकारवृत्ति से ब्रह्मगत अज्ञान नष्ट हो जाता है और स्वयंप्रकाश ब्रह्म का आविर्भाव हो जाता है इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं रहती। यह अन्तःकरणवृत्ति परमार्थ न होते हुए भी ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञान को ऐसे ही नष्ट कर देती है जैसे स्वाप्न व्याघ्र अपनी उपादानभूता अविद्या को नष्ट कर देता है। वाचस्पतिमिश्रकृत भामती तथा उस पर वेदान्तकल्पतरु के कथन 'आत्मचिन्तनम्' के इस श्लोक का समर्थन करते हैं। जीवन तथा मृत्यु भी व्यावहारिक स्तर पर अज्ञान के ही परिणाम हैं। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च (भ. गी. 2.27)" भगवान् श्रीकृष्ण के इस कथन से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जन्म के साथ मृत्यु नियत है।

जो स्वप्न हम देखते हैं उनमें स्पष्टता का अभाव होता है। ऐसे ही इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ भी घटता है वह सब अच्छी तरह बुद्धिगम्य नहीं हो पाता है। कुछ समय पहले हँसता-मुस्कराता व्यक्ति प्राण त्याग देता है। विचारने पर यह सब कुछ स्वप्नवत् लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम जगत् के दृश्यमान पदार्थों के स्वरूप को समझ कर उनके प्रति मोह में न पड़े। यह सब कुछ अनित्य है और इसके विपरीत आत्मा सबका साक्षी है, तीनों कालों में रहने वाला है तथा अविनाशी है।

अब अग्रिम श्लोक में दृष्टान्त की सहायता से यह प्रतिपादन किया जा रहा है कि अज्ञान से अवस्थात्रय तथा दृश्यमान जगत् का प्रातीतिक जन्म कैसे होता है?

परमोपात्त-पर्जन्य-विद्युद्-दामाहि-संभ्रम-
भ्राजमानः प्रपञ्चोऽत्र आत्मा साक्षी सदक्षरः।।8।।

अन्वय तथा अर्थ — अत्र = ब्रह्म में, प्रपञ्चः = दृश्यमान पञ्चीकृत जगत्, परमोपात्त = ब्रह्म के द्वारा स्वीकृत, पर्जन्य = मेघ, विद्युद् = बिजली (रूपी),

27. अविद्या तु यद्यविद्यामुच्छिन्द्याज्जनयेद्वा न तत्र काचिदनुपपत्तिः। ब्रह्मसूत्र 1.1.4 पर भामती का अन्तिम अंश। उस पर कल्पतरुव्याख्या इस प्रकार है - दृष्टं च स्वप्नोपलब्धव्याघ्रादीनां स्वोपादानाविद्यानिवर्तकत्वमिति भावः। अविद्यामयी वृत्तिर्यद्यविद्यामुच्छिन्द्यात्तामेव स्वनिवर्तिकामविद्यां जनयेद्वोभयथाप्युक्तमार्गेण न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः।

दाम = रस्सी (में), अहि = सर्प (की), संभ्रम = भ्रान्ति (के समान), भ्राजमानः = प्रकाशित हो रहा है। आत्मा = आत्मा, साक्षी = साक्षात् द्रष्टा, सत् = सत्य, अक्षरः = अविनाशी।

अनु० :- परब्रह्म (अज्ञानरूप) मेघ को स्वीकार करके (अपने को आवृत कर लेते हैं।) उस मेघ में जो विद्युद्-रज्जु चिदाभास या पराप्रकृतिभूत जीव की सत्ता को सूचित करती है भ्रम के कारण उसमें अपराप्रकृतिभूत जगद्-रूप सर्प की प्रतीति होती है।।8।।

व्या० :- 'आत्मचिन्तनम्' का यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त में माया (अज्ञान) की भूमिका भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोक में 'पर्जन्य' शब्द से अज्ञान तथा उसकी आवरण शक्ति का ग्रहण किया गया है। साथ में विद्युत् का ग्रहण अज्ञान की विक्षेपशक्ति को सूचित करने के लिये किया गया है। तमस् की आवरणशक्ति वस्तु के स्वरूप को ढक लेती है और विक्षेपशक्ति को उत्तेजित करती है। विक्षेपशक्ति रजस् की उद्भाविका शक्ति है। यह क्रियास्वरूप है। जब आवरण शक्ति से किसी वस्तु का वास्तविक रूप ढक लिया जाता है तो विक्षेपशक्ति से नया रूप उद्भावित हो जाता है। प्रत्येक क्रिया का स्रोत यही विक्षेपशक्ति है।

इस पद्य की विलक्षणता यह है कि इसमें विद्युद्-दाम से पराप्रकृतिभूत जीव की सत्ता द्योतित होती है और उसी रस्सी में अष्टधा प्रकृति (पाँच भूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार) अर्थात् अपरा प्रकृतिरूप सर्प की प्रतीति होती है। दोनों जीव तथा जगत् अज्ञान के ही कार्य हैं। दूसरे शब्दों में विद्युद्-दाम सृष्टिगत जीवभूत शुद्ध प्रकृति की ओर तथा सर्प सृष्टिगत अशुद्ध प्रकृति की ओर इंगित करता है। साथ ही विद्युत्पद से विक्षेपशक्ति तथा प्रपञ्च की क्षणिकता भी द्योतित होती है।

जैसे सूर्य समुद्र, नदी आदि से पानी लेकर मेघ की सृष्टि करता है तथा उसी मेघ से मानो अपने आप को ढक लेता है। वैसे ही परब्रह्म अपनी ही माया से मानो अपने को ढक लेते हैं या प्रकृति या बुद्धि की सृष्टि करके अपने वास्तविक रूप की अन्यथा प्रतीति करा देते हैं परन्तु जिस प्रकार बादल सूर्य से वास्तव में बहुत दूर होते हैं और सूर्य के प्रकाश पर तनिक भी प्रभाव नहीं डालते उसी प्रकार माया से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्ब चिदाभास है। आत्मा, बुद्धि तथा बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य के संघात को जीव कहते हैं। जीव को श्रीमद्भगवद्गीता 7.5 में परा प्रकृति भी कहा गया है: अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। अष्टधा प्रकृति (पाँच भूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार) को अपरा

प्रकृति कह कर भगवान् जीव को शुद्ध परा प्रकृति कहते हैं जिससे समस्त जगत् धारण किया जाता है। अपरा प्रकृति दृश्यमान जगत्-रूप प्रपञ्च है जो अज्ञानजन्य है तथा विविधता से संपूर्ण है। इसमें पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं। कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा स्थूल शरीर इन्हीं में समाविष्ट हैं।

जैसे धुँधले प्रकाश में भूमि पर पड़ी हुई रस्सी भ्रम से सर्प जैसी प्रतीत होती है और भय उत्पन्न कर देती है। उसी प्रकार अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण चिदाभास (जीव) संसार के रूप में प्रतीत होता है और राग, द्वेष, संशय, भय आदि उत्पन्न करता है। जब निरन्तर तथा सत्कारपूर्वक साधना करके जीव अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञानजनित वैविध्यपूर्ण संसार भी नहीं रहता।

'परमोपात्त' शब्द से यह ज्ञात होता है कि यह सृष्टि परमात्मा के द्वारा ही बनाई गयी है। इससे सांख्यमत का खण्डन हो जाता है जो प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। अब प्रश्न उठता है कि चेतन ब्रह्म जगत् का कारण कैसे हो सकता है? लोक में कुम्भकार आदि मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि की सहायता से घट आदि का निर्माण करते हैं तो परमात्मा बिना किसी द्रव्य तथा साधन की सहायता के सृष्टि की रचना कैसे कर सकते हैं? इसका उत्तर श्वेताश्वतर उपनिषद् में दिया गया है :

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।। 6. 8।।

"उसका कार्य अर्थात् शरीर तथा करण अर्थात् इन्द्रियाँ नहीं हैं। उसके बराबर तथा उससे अधिक शक्ति वाला कोई दिखाई नहीं देता। उसकी परा शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है और उसकी ज्ञानशक्ति तथा उसका बल स्वाभाविक हैं।" इसलिये परमात्मा को सृष्टि इत्यादि की रचना करने के लिये किसी वस्तु तथा सहायता आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें और अधिक स्पष्टता से ज्ञान प्राप्त करने के लिये ब्रह्मसूत्र 2.1.24 से लेकर 2.1.37 तक का अध्ययन अधिक उपयोगी है। जैसे लोक में संपन्न व्यक्ति बिना किसी प्रयोजन के क्रीड़ा, विहार आदि करता है उसी प्रकार ईश्वर की भी लीलारूप प्रवृत्ति होती है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस संकल्प से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हो जाती है।

एको गतिषु संभिन्नः किंरूपः किल चिन्त्यताम्।
गुरुयोगात् प्रबुद्धः स्यात् आत्मा ब्रह्मोपपद्यते।।9।।

अन्वय तथा अर्थ — गतिषु = अवस्थाओं में, संभिन्नः = भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाला, एकः = (पारमार्थिक रूप से जो) एक (है), किंरूपः = वह किस

स्वरूप वाला है, किल = निश्चय ही, चिन्त्यताम् = (ऐसा) विचार करना चाहिये, गुरुयोगात् = गुरु के सांनिध्य से, प्रबुद्धः स्यात् = (अज्ञाननिद्रा से) जाग जाता है अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। आत्मा = जीवात्मा, ब्रह्म = ब्रह्मस्वरूप (ही) है, उपपद्यते = (यह) युक्तिसंगत हो जाता है।

अनु० :- (जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति) अवस्थाओं में, (नरक, स्वर्ग आदि विभिन्न परिस्थितियों में, शैशव, यौवन, तथा वार्धक्य की अवस्थाओं में) एक जीवात्मा भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। (अतः) निश्चय ही यह चिन्तन करना चाहिये कि जीवात्मा का (वास्तविक) स्वरूप क्या है? (इस चिन्तन के परिणामस्वरूप जीव का ब्रह्म से तादात्म्य होने पर) यह उपपन्न हो जाता है कि जीवात्मा ही ब्रह्म है।

अथवा

एक परब्रह्म अनेक भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में (विविधतापूर्ण जगत् के रूप में) विविध प्रतीत होता है। (अतः) अवश्य ही यह विचार करना चाहिये कि ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? जो शिष्य गुरु के समीप जाकर उनके चरणों की श्रद्धापूर्वक सेवा करता है वह (निश्चय ही) प्रबुद्ध हो जाता है (अर्थात् उसे आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है)। (तब) जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य (भी) युक्तिसंगत हो जाता है।

व्या० :- आत्मचिन्तनम् के इस श्लोक में 'एक' शब्द से जीव का ग्रहण किया गया है। एक ही जीव जाग्रदवस्था में 'विश्व' कहलाता है। स्वप्नावस्था में उसे 'तैजस' नाम से जाना जाता है। सुषुप्ति में जीव 'प्राज्ञ' कहलाता है। बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था में भी एक ही जीव अनुगत रहता है। जीव की इतनी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। इसलिये इस पद्य में 'मैं कौन हूँ?' इस प्रश्न पर विचार करने का संकेत दिया गया है। इससे ऐसा संकेत भी मिलता है कि साधक में विषयों से हटकर अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो तथा इससे यह भी ज्ञात होता है कि वेद और उपनिषद् तथा गुरु के उपदेश का श्रवण अनिवार्य है। जिज्ञासु ने जो सुना है तथा सुनकर उसके अर्थ को समझ लिया है तदनन्तर वह सुने हुए विषय के तात्पर्य का युक्तिपूर्वक निर्धारण करे और उसकी सत्यता से पूरी तरह आश्वस्त हो जाये। पूरी तरह आश्वस्त होने के पश्चात् उस पर सत्कारपूर्वक लगातार दीर्घकाल तक ध्यान करे। इस प्रसंख्यान प्रक्रिया से अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर अज्ञान के नाश होने में विलम्ब नहीं लगता है और साधक को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है और जीव तथा ब्रह्म में अभेद की अनुभूति हो जाती है। इससे यह युक्तिसंगत हो जाता है कि जीवात्मा ब्रह्म ही है।[28]

28. वाचस्पतिमिश्र ने ब्रह्मसूत्र 3.4.26 के शांकरभाष्य की भामती में इस प्रक्रिया का बहुत ही सुन्दर प्रतिपादन

संस्कृत भाषा में 'किंप्रभुः' का विग्रह 'कुत्सितः प्रभुः' किया जाता है। क्या इसी प्रकार 'किंरूपः' में भी 'किम्' को 'कुत्सित' अर्थात् 'निन्दा' अर्थ में लिया जाना चाहिये। मेदिनीकोश में 'किम्' शब्द के चार अर्थ दिये गए हैं : 'किं कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि'। यहाँ पर 'प्रश्न' अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिये। जीव क्या है? इसके उत्तर में जीव का संक्षिप्त लक्षण है : 'बिम्बरूप आत्मा अन्तःकरणमाभासश्चेति त्रयाणां संघात एव जीवः' जैसा कि पञ्चदशी 4.11 में प्रतिपादित किया गया है : चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः। चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते।। 'आत्मचिन्तनम्' के इस श्लोक के अनुसार जब हम जीव के स्वरूप का चिन्तन करेंगे तब चैतन्यात्मक अधिष्ठान ही मुख्य रूप से ध्यान का विषय बनेगा क्योंकि चैतन्य, अन्तःकरण से उपलक्षित लिङ्गदेह तथा लिङ्गदेह में प्रतिबिम्बित चैतन्य इन तीनों के संघात में चैतन्य ही मुख्य है।

अग्रिम श्लोक में ऐसे ध्यान का प्रतिपादन किया जा रहा है जिससे अज्ञानरूप तमस् के आवरण के नाश हो जाने पर चैतन्यरूप ज्योति प्रकट हो जाती है जिसके चिन्तन का पूर्व पद्य में निर्देश दिया गया है।

संयम्य सर्वतो वृत्तिमिन्द्रियाणि मनो मतिम्।
योऽवशिष्येत् स्वयंज्योतिः आत्मा ब्रह्मोपपद्यते।।10।।

अन्वय तथा अर्थ — सर्वतः = सब ओर से, वृत्तिम् = चित्त के व्यापारों को, इन्द्रियाणि = कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को, मनः = मन को, मतिम् = बुद्धि को, संयम्य = संयमित करने पर अर्थात् रोकने पर, यः = जो, अवशिष्येत् = बचा रहता है, सः = वह, स्वयंज्योतिः = स्वप्रकाश (चैतन्य ही है), आत्मा = जीवात्मा (का), ब्रह्म = ब्रह्म (के साथ तादात्म्य), उपपद्यते = युक्तिसंगत हो जाता है।

अनु० :- सब ओर से वृत्तियों को रोकने पर (अर्थात्) इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को सब ओर से नियन्त्रित करने पर जो शेष रहता है वह स्वयंप्रकाश आत्मा (ही) है। इस प्रकार (साधना के अनुष्ठान के पश्चात्) आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य युक्तिसंगत हो जाता है।।10।।

व्या० :- इस श्लोक में योगदर्शन की झलक मिलती है। अन्तःकरण या चित्त के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। योगदर्शन में ये पाँच प्रकार की होती हैं : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति तथा निद्रा। हमारा चित्त सदा व्यापार में लगा रहता है

किया है: अपि च चतस्रः प्रतिपत्तयो ब्रह्मणि। प्रथमा तावदुपनिषद्वाक्यश्रवणमात्राद्भवति, यां किलाचक्षते श्रवणमिति। द्वितीया मीमांसासहिता तस्मादेवोपनिषद्वाक्याद्यामाचक्षते मननमिति। तृतीया चिन्ता सन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति। चतुर्थी साक्षात्कारवती वृत्तिरूपा, नान्तरीयकं हि तस्याः कैवल्यमिति।

और हमारा वास्तविक स्वरूप वृत्तियों से रंगा रहता है जिस कारण से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं रह पाता। आत्मा के अपने स्वरूप में स्थित रहने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध कर लें। इसके लिये सत्कारपूर्वक वैराग्यसहित सतत अभ्यास करना अनिवार्य है। सर्वप्रथम हमें इन्द्रियों को विषयों से रोकना चाहिये क्योंकि यत्न करते हुए भी इन्द्रियाँ बलात् मन को विषयों की ओर ले जाती हैं जैसा श्रीमद्भगवद्गीता 2. 60 में कहा गया है "यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः (हे कौन्तेय! प्रयत्न करते हुए विवेकशील पुरुष की प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मन को विषयों की ओर बलात् धकेल देती हैं)।" तदनन्तर हमें संकल्पविकल्पात्मक मन का नियन्त्रण करना चाहिये। मन के नियन्त्रण के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने वैराग्यसहित अभ्यासरूप साधन का उपदेश दिया है (अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते, भ. गी. 6.35)। निश्चयात्मिका बुद्धि का नियन्त्रण भी अभ्यास तथा वैराग्य से ही होता है। इस प्रक्रिया का ध्यानपूर्वक अनुसरण करते हुए जब हम मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का अच्छी तरह नियन्त्रण कर लेते हैं तब सब वृत्तियाँ भी पूर्ण रूप से नियन्त्रित हो जाती हैं। इस निरुद्ध अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और उसका ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर यह कथन युक्तिसंगत हो जाता है कि जीव ब्रह्म ही है। आत्मा को यहाँ स्वयंज्योतिःस्वरूप कहा गया है। जब हम जाग्रत् अवस्था में होते हैं तब हम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दरूप विषयों का अनुभव करते हैं। रूप को देखने के लिये चक्षुरिन्द्रिय तथा बाह्य प्रकाश की आवश्यकता होती है। परन्तु जब हम सोते हैं और सोते हुए स्वप्नावस्था में विषयों का अनुभव करते हैं। रूपवान् पदार्थों को देखते हैं। उस समय जाग्रत् अवस्था में उपलभ्यमान प्रकाश तो नहीं होता लेकिन फिर भी हम पदार्थों को देख सकते हैं। इसलिये यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह सब कुछ आत्मा के प्रकाश में ही हो सकता है। इसलिये आत्मा प्रकाशमय है और यह प्रकाश किसी अन्य प्रकाश पर निर्भर नहीं रहता है। अतः आत्मा स्वयंप्रकाश है। सब वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर आत्मा की स्वतःस्फूर्त ज्योतिः अवशिष्ट रह जाती है। इसी अवस्था को आत्मावगति या ब्रह्मावगति या ब्रह्माविर्भाव कहते हैं।

श्रवण का प्रतिपादन करके योग में प्रतिपादित ध्यान की विधि को भी पूर्व श्लोक में समझा दिया गया है जिससे आत्मज्योति प्रकट होती है। अधुना निदिध्यासन तथा आत्मा की आनन्दरूपता का उल्लेख किया जा रहा है। निदिध्यासन का अर्थ है सुने तथा मनन किये हुए सिद्धान्तों को व्यवहार में उतार कर निष्कर्ष से प्राप्त तत्त्व का सतत ध्यान करना जिससे आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

अमानः स्यात् समानः स्यान्निर्द्वन्द्वोऽसङ्ग एव च।
निष्कामः सर्वदानन्द आत्मा ब्रह्मोपपद्यते।।11।।

अन्वय तथा अर्थ — अमानः = निरभिमान, स्यात् = हो, समानः = समभाव से युक्त, स्यात् = हो, निर्द्वन्द्वः = राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित, च = और, असङ्गः = आसक्तिरहित, एव = ही, (स्यात्) = (हो)। (इससे व्यक्ति) निष्कामः = कामनारहित, सर्वदानन्दः = सदा आनन्द से पूर्ण, (भवति) = (हो जाता है)। (ऐसे) आत्मा = जीवात्मा (का), ब्रह्म = ब्रह्म (के साथ तादात्म्य), उपपद्यते = उपपन्न हो जाता है।

अनु० :- (मुमुक्षु) अभिमानरहित तथा समभावयुक्त हो, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों तथा आसक्ति से रहित हो (ताकि) वह निष्काम (कामनारहित) होकर सदा आनन्द से पूर्ण (रह सके)। इस प्रकार जीवात्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य युक्तिसंगत हो जाता है।

व्या० :- शरीरादि अनात्मपदार्थों में अहंभाव रखना अभिमान है। इस अभिमान के कारण ही व्यक्ति पाप करता है। मुमुक्षु को अभिमानरहित होना, अहंकाररहित होना चाहिये क्योंकि यह एक अच्छा आध्यात्मिक गुण है जो व्यक्ति का अपने स्वरूप के ज्ञान की यात्रा के मार्ग पर एक बड़ा क़दम है। जब व्यक्ति में अभिमान नहीं होता तभी वह समत्वबुद्धि से कर्म करने में सफल हो सकता है। कर्म करते हुए समत्वबुद्धि रखने को ही श्रीमद्भगवद्गीता में योगरूप कौशल कहा गया है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' श्रीमद्भगवद्गीता 2.50 का एक प्रसिद्ध कथन है जिसका अर्थ हैः समत्वबुद्धि से कर्म करना योग है। 'अमानः' का अर्थ हम यह भी कर सकते हैं 'मान के प्रति राग का अभाव'। हम सबमें सम्मान के लिये कामना होती है। जब हमारा सम्मान होता है तो हम हर्षित होते हैं और जब हमारा सम्मान नहीं होता तो हमें कष्ट होता है। हम विचलित हो जाते हैं। मन का सन्तुलन बिगड़ जाता है जो बुद्धि को समभाव में नहीं रहने देता जिससे साधना करने वाले योगपथ से डिग जाते हैं।

निर्द्वन्द्व होना भी दैवी सम्पद् का एक घटक है। राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व हैं। जिससे हमें सुख मिलता है उसमें हमें राग हो जाता है और फिर हम उसके प्रति आसक्त हो जाते हैं और जिस वस्तु से हमें कष्ट होता है उसके प्रति हमारे मन मे द्वेष पैदा हो जाता है। इस कारण हमारा मन राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो पाता। यह मनःस्थिति परमात्मा के प्रति निष्कंटक, निर्बाध प्रेम की विरोधी है। अतः यदि हमें परमात्मा की प्राप्ति करनी है, यदि हमें अपने स्वरूप

में स्थित होना है तो हमें द्वन्द्वरहित होना चाहिये। मन को और अधिक निर्मल करने के लिये योगसूत्र 1.33 अत्यन्त उपादेय है : मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। मन को साधने के लिये इस सूत्र में बताया गया उपाय चित्त की निर्मलता के लिये अत्यन्त आवश्यक है तथा आध्यात्मिक मार्ग में सफलता देने वाला है। इसका अर्थ यह है : सब प्रकार से सुखी तथा सम्पन्न व्यक्ति के प्रति हमारे मन में मैत्रीभाव होना चाहिये। इससे सुखी व्यक्ति के प्रति हमारे मन की संभावित ईर्ष्या की कलुषता दूर हो जाती है। दुःखी व्यक्ति के प्रति हमें करुणा का भाव रखना चाहिये। साथ ही उसका दुःख दूर करने की इच्छा भी हमारे मन में होनी चाहिये। इससे दूसरे के प्रति अपकार करने की भावना समाप्त हो जायेगी। पुण्यशील प्राणियों के प्रति मुदिता वृत्ति रखनी चाहिये अर्थात् उनके प्रति हमें स्वाभाविक रूप से प्रसन्न रहना चाहिये - इससे दूसरों के प्रति असूया की कलुषता दूर हो जाती है। जो व्यक्ति पापी है उसके प्रति हमारे मन में क्रोध का भाव आ जाता है। इसको दूर रखने के लिये हमारे मन में उसके प्रति उपेक्षा का भाव होना चाहिये। यह अभ्यास चित्त की निर्मलता तथा एकाग्रता में अत्यन्त सहायक है।

असंग अर्थात् अनासक्ति का भाव मन की निर्मलता की प्राप्ति के लिये एक प्राप्त करने योग्य मनःस्थिति है। विषयों के प्रति आसक्ति का अभाव कामनाओं को त्यागने में सहायता करता है। कामना काम, लोभ तथा क्रोध के त्रिक की मूल है क्योंकि कामना की पूर्ति होने पर हमारे मन में उसके प्रति लोभ घर कर लेता है जिससे हमारी कामना की पूर्ति हुई है और कामना की पूर्ति न होने हम क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं। अतः कामनाओं से मुक्ति हमें ऐसी दुरवस्था से ग्रस्त नहीं होने देती। इच्छाओं का सर्वथा अभाव होने पर हम अपने स्वाभाविक आनन्द की अवस्था को प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। आनन्द की प्राप्ति होने पर हम अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं तथा यह भी कहना युक्तिसंगत हो जाता है कि जीवात्मा ब्रह्म ही है।

निराकारोऽपरिच्छिन्नः शून्यत्वे नैव सारता।
चिद्घनो निर्गुणो गूढ आत्माऽद्वैतो निरञ्जनः।।12।।

अन्वय तथा अर्थ — (आत्मा) निराकारः = आकाररहित, अपरिच्छिन्नः = परिच्छेदरहित अर्थात् सर्वव्यापक तथा अखण्ड, (अस्ति) = (है)। शून्यत्वे = शून्य होने पर, शून्यता में, सारता = सार (चैतन्यभूत सार), एव = ही, न = नहीं, (अस्ति) = (है)। (आत्मा) चिद्घनः = चिन्मय, चैतन्यघन, निर्गुणः = गुणरहित या नीरूप, गूढः = आच्छादित या छिपा हुआ, (अस्ति) = (है)। (आत्मा) अद्वैतः

= अद्वय, द्वैतरहित, निरञ्जनः = निर्लेप, क्लेशरहित अर्थात् अविद्या से अछूता, (अस्ति) = (है)।

अनु० :- आत्मा निराकार (आकारशून्य) है। अतः परिच्छेदरहित अर्थात् व्यापक तथा अखण्ड है। (इस नीरूप अखण्डता में कुछ लोग शून्यता का आरोप करते हैं) लेकिन शून्यता में सारता का सर्वथा अभाव होता है। (वह आत्मा) चैतन्यघन है, (सत्त्व, रजस् और तमस्) इन तीनों गुणों से रहित है; (अतः) छिपा हुआ है। आत्मा अद्वय (तथा) शुद्ध (अर्थात् माया से सर्वथा अस्पृष्ट) है।

व्या० :- दर्शनशास्त्र में आत्मा के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है। परिमाण को लेकर विशिष्टाद्वैत में आत्मा को अणु माना जाता है और जैनदर्शन उसे शरीर के परिमाण अर्थात् मध्यम परिमाण वाला मानता है। अपरिच्छिन्न कहने से इन दोनों मतों का खण्डन हो जाता है क्योंकि परिच्छेदरहित तो सर्वव्यापक होता है। आकार तो गुणों की सृष्टि है। निराकार कहने से आत्मा पर गुणों का किसी भी तरह प्रभाव नहीं पड़ता है। नित्य कहने से क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन हो जाता है क्योंकि आत्मा को क्षणिक विज्ञानस्वरूप मानने पर प्रत्यभिज्ञा में जो हमें जीव की एकरूपता प्रतीत होती है, वह सिद्ध नहीं हो पायेगी। यह अनुभव हम सबको होता है कि मैंने जिस वस्तु का स्पर्श किया मैं ही उस वस्तु को देख रहा हूँ। आत्मा को नित्य मानने से प्रत्यभिज्ञा में जीव की एकरूपता प्रमाणित हो जाती है। नागार्जुन शून्य को परम सत्य मानता है। परन्तु परम सत्य को शून्य मानने से अर्थात् आत्मा को शून्य मानने पर आत्मा में सारहीनता की प्रसक्ति हो जाती है। इसलिये बाबाश्री अगले चरण में कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है जिससे शून्यवाद का खण्डन हो जाता है। आत्मा निर्गुण है। परन्तु वह गुणमयी माया से आच्छादित है। यह तथ्य 'गूढ' शब्द से बोध का विषय बनता है। सांख्य दर्शन में पुरुषबहुत्व का सिद्धान्त 'अद्वैत' शब्द से निरस्त हो जाता है क्योंकि उपनिषदों में केवल ब्रह्म को ही सत्य माना गया है। अनेकता माया के कारण है, अज्ञान के कारण है। ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भेद समाप्त हो जाता है आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा शेष बचता ही नहीं। उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि दूसरे से भय उत्पन्न होता है (द्वितीयाद्वै भयं भवति, बृहदारण्यक उपनिषद् 1. 4. 2)।

आत्मा निरञ्जन है। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने मुण्डकोपनिषद् के 3.1.3 मन्त्र में आये हुए निरञ्जनशब्द का अर्थ 'निर्लेप' किया है जिसका उन्होंने आगे अर्थ 'विगतक्लेश' किया। 'क्लेश' का कारण अविद्या है। इस प्रकार हम कार्य तथा कारण में अभेद मानकर अञ्जन का अर्थ अविद्या या अज्ञान समझ सकते हैं। इस

तरह निरञ्जनशब्द का अर्थ अविद्यारहित या अज्ञान से अत्यन्त अस्पृष्ट किया जा सकता है।

अन्य सिद्धान्तों का निराकरण करके यह प्रतिपादित किया गया है कि आत्मा अद्वय होने से एक ही है और वास्तव में माया से अनुपहित है। यहाँ यह संशय हो सकता है कि माया से अपरिच्छन्न शुद्ध चैतन्यभूत ब्रह्म में पञ्चीकृत स्थूल जगत् की प्रतीति कैसे हो सकती है? अग्रिम श्लोक में इस शंका का निवारण किया जा रहा है —

अव्यक्तत्वादचिन्त्यत्वाद् ब्रह्मणि नैव विभ्रमः।
कूटस्थे तु बहिर्बाह्य आत्माऽद्वैतो निरञ्जनः।।13।।

अन्वय तथा अर्थ — अव्यक्तत्वात् = अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का विषय न होने के कारण, अचिन्त्यत्वात् = बुद्धि का विषय न होने के कारण, ब्रह्मणि = ब्रह्म में, विभ्रमः = भ्रम अथवा अज्ञान, एव = ही, न = नहीं, (अस्ति) = (है)। कूटस्थे = सगुण ब्रह्म अथवा कूट का अर्थ माया, माया में स्थित अर्थात् मायोपहित ब्रह्म में, तु = तो, (भ्रम या संसार), बहिर्बाह्यः = बाहर ही बाहर अर्थात् भ्रम या संसार केवल माया की परिधि में ही है, ब्रह्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा = ब्रह्म, अद्वैतः = द्वैतरहित, निरञ्जनः = शुद्ध अर्थात् माया से अस्पृष्ट (है)।

अनु० :- ब्रह्म में भ्रम है ही नहीं क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों तथा बुद्धि का विषय नहीं है (जो व्यक्त तथा प्रमेय है अर्थात् जो इन्द्रियों तथा बुद्धि का विषय है उसी में भ्रम हो सकता है। बुद्धि ही के किसी विषय में कारणवश भ्रान्ति होने की संभावना है जो बुद्धि के परे है उसमें भ्रान्ति की तो कोई संभावना ही नहीं हो सकती। वह सर्वथा निर्भ्रान्त है)। कूटस्थ ब्रह्म में (सगुण अथवा मायोपहित ब्रह्म में) तो भ्रम या संसार बाहर ही बाहर है (अर्थात् भ्रम ब्रह्म का स्पर्श नहीं करता)। (इसलिये) ब्रह्म एक है तथा माया से अस्पृष्ट है।।13।।

व्या० :- ब्रह्म अव्यक्त है क्योंकि वह लौकिक प्रमाणों का विषय नहीं बनता। इसका कारण है कि वह इन्द्रियों के द्वारा तथा बुद्धि के द्वारा विषय नहीं बनाया जा सकता है। वह अवाङ्मनसगोचर है। भ्रम तो उसी पदार्थ के विषय में होता है जो इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान का विषय बनता है। इसलिये अव्यक्त होने के कारण भ्रम ब्रह्म को छू भी नहीं सकता। मन से भी उसको चिन्तन का विषय नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार ब्रह्म परामर्शजन्य ज्ञान का विषय भी नहीं बन सकता अर्थात् ब्रह्म अनुमान का विषय भी नहीं है क्योंकि व्याप्ति के बिना परामर्श

की संभावना ही नहीं बन पायेगी क्योंकि इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान का विषय बनने पर ही व्याप्ति की संभावना होती है। दूसरी बात यह है कि परिच्छिन्न वस्तु अर्थात् सावयव वस्तु में ही भ्रम की संभावना हो सकती है निरवयव ब्रह्म भ्रम का विषय नहीं बन सकता। शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस असंभावना को दूर करने के लिये कूटस्थ पद दिया गया है। कूट में अर्थात् मायारूप उपाधि में स्थित ब्रह्म से जगत् के जन्मादि होते हैं। फिर माया के सत्त्वप्रधान होने से मायापति कूटस्थ अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है। यह तथ्य 'बहिः' तथा 'बाह्य' इन दो पदों के प्रयोग से प्रकट किया गया है। जैसे मायावी सूत्रधार माया का प्रदर्शन करते हुए अपनी माया से मुग्ध नहीं होता है केवल दर्शकों को मोह में डालता है। ठीक इसी प्रकार कूटस्थ मायोपाधिक ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हुए अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। इसलिये उसे अच्युत कहा जाता है। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार कूट उसे कहते हैं जो यथार्थ वस्तु का आच्छादन करके अयथार्थ पदार्थ को दिखाता है। इसलिये वह ईश्वर जो सब भूतों में छिपा हुआ है और सब प्रकार के कर्मों का अध्यक्ष है उसकी प्राप्ति करने के लिये श्रद्धापूर्वक उसका भजन करना चाहिये।

ऊपर किये गये प्रतिपादन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैत आत्मा ब्रह्म है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सगुण ब्रह्म की उपासना तिरस्कार्य है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना उन मनुष्यों के लिये अत्यन्त कठिन है जो देहात्माध्यास बुद्धि से ग्रस्त हैं। इसीलिये शंकराचार्य जी ने कहा है कि जब तक द्वैत की भावना विद्यमान है तब तक मनुष्यों के लिये सगुण ब्रह्म ही उपास्य है। वास्तव में जैसे बर्फ तथा पिघली हुई बर्फ में कोई भेद नहीं है वैसे ही सगुण तथा निर्गुण अभिन्न हैं। ब्रह्म के इन सगुण तथा निर्गुण भावों का प्रतिपादन अगले श्लोक में किया जा रहा है।

विशिष्ट इष्टतो मान्यो भक्तापेक्षितविग्रहः।
निर्विशेषः शिवः शान्त आत्माऽद्वैतो निरञ्जनः।।14।।

अन्वय तथा अर्थ — विशिष्टः = सगुण ब्रह्म, भक्तापेक्षितविग्रहः = भक्त की इच्छा के अनुसार शरीर या रूप धारण करने वाले, इष्टतः = इष्ट होने के कारण, मान्यः = उपासना करने योग्य, माननीय, निर्विशेषः = जो किसी भी विशेष गुण से युक्त नहीं है अर्थात् निर्गुण, शिवः = कल्याणमय, शान्तः = शान्तिपूर्ण, (अस्ति) = (है), आत्मा = ब्रह्म, अद्वैतः = द्वैतरहित अथवा एक, निरञ्जनः = शुद्ध अर्थात् माया द्वारा अपरिच्छिन्न (है)।

अनु० :- ब्रह्म भक्त की अपेक्षा या इच्छा के अनुसार शरीर धारण करता है (अतः) अभीष्ट होने के कारण सगुण ब्रह्म उपासना करने योग्य है। उपाधिशून्य अर्थात् निर्गुण ब्रह्म कल्याणमय तथा शान्तिपूर्ण है। ब्रह्म द्वैतरहित तथा शुद्ध अर्थात् माया से अपरिच्छिन्न है।।14।।

व्या० :- परमात्मा निर्गुण ही है, सगुण नहीं — इस मत का पूर्णरूप से समर्थन न करते हुए बाबाश्री सगुण तथा निर्गुण मतों का समन्वय करते हुए कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म ही समग्र ऐश्वर्यशक्ति से सम्पन्न तथा करुणासागर होने के कारण ईप्सित फल देने की इच्छा से भक्त की अपेक्षा के अनुसार शरीर धारण करते हैं। 'मान्य' पद से परमेश्वर की माननीयता अथवा उपास्यता द्योतित होती है। परमात्मा का निर्गुण स्वरूप अत्यन्त कठिनता से जानने योग्य है। इसलिये वे भक्तों के द्वारा निरन्तर चिन्त्यमान तथा भक्तों को फल देने के लिये उनकी इच्छा के अनुसार ब्रह्माविष्णुमहेशादि रूप को धारण करते हैं। यह बात 'भक्तापेक्षितविग्रहः' समस्तपद से कही जा रही है। हमें पहले सगुण की भक्ति का सहारा लेना चाहिये - ऐसा शास्त्रों में देखा जाता है। सगुण भक्ति भी तीन प्रकार की होती है 1. दम्भमात्सर्यदूषित तामसी 2. परपीड़ादिरहित अपने लिये अभ्युदय की कामना वाली राजसी 3. पापों का प्रक्षालन करने वाली ईश्वर के प्रति समर्पणभावना वाली सात्त्विकी। इन तीनों में सात्त्विकी भक्ति का आश्रय लेना चाहिये। सात्त्विकी भक्ति के परिपाक से परा भक्ति अर्थात् परमात्मा के प्रति परम प्रेम का उदय होता है। इसके परिणामस्वरूप एकाग्र चित्त तेल की धारा के समान परमात्मा में लग जाता है। भक्तिसूत्र के आचार्य नारद उपदेश करते हैं : "परमात्मनि परमप्रेमरूपा तदर्पिताखिलाचारिता पुनः तद्विस्मरणे परमव्याकुलता च भक्तिः (परमात्मा से परमप्रेम करते हुए सब कुछ परमात्मा को ही अर्पित कर देना तथा परमात्मा का विस्मरण होते ही अत्यधिक व्याकुल हो जाना भक्ति है।" इस प्रकार चित्त में परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ न रहने के कारण चित्त निर्मल हो जाता है।

परमात्मा के निरतिशय कल्याणमय रूप का बोध कराने के लिये बाबाश्री ने श्लोक में 'शिव' पद का प्रयोग किया गया है। 'शान्त' पद के प्रयोग से उन्होंने यह बताया है कि विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि जीव की अवस्थाओं में विद्यमान धर्मों का परमात्मा में सर्वथा अभाव है। इसी तथ्य को सूचित करने के लिये श्लोक में 'शान्त' शब्द का प्रयोग किया गया है।

गत त्रिक में यह प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्म अद्वैत तथा माया से सर्वथा अस्पृष्ट है। अब वेदों के अनुसार यह बताया जा रहा है कि आत्मा नित्य तथा सबका आधार है। प्रथम श्लोक में पहले आत्मा के ओंकारात्मक स्वरूप से परिचय कराया जा रहा है।

वेदानां त्रिपदा सारं तस्या ओंकार उच्यते।
ओंनामासि त्वमेवेति, आत्मा धर्मः सनातनः।।15।।

अन्वय तथा अर्थ — वेदानाम् = वेदों का, सारम् = सार, त्रिपदा = तीन चरणों वाली गायत्री (अस्ति) = (है)। तस्याः = उस गायत्री का, (सारम्) = (सार), ओंकार = प्रणव, उच्यते = कहा जाता है। त्वम् = तुम, ओंकारनामा = ओंकार नाम वाले, एव = ही, असि = हो। आत्मा = आत्मा, सनातनः = सदा रहने वाला, धर्मः = (सबका) आधार (है)।

अनु० :- वेदों का सार तीन पादों वाला गायत्री मन्त्र है। उस गायत्री मन्त्र का सार (तीन मात्राओं वाला) ओंकार (अ, उ, म्) कहा जाता है। तुम ओंकार नाम वाले ही (जीव) हो। आत्मा सदा रहने वाला (सबका) आधार (धर्म) (है)।

व्या० :- गायत्री मन्त्र को वेदों का सार कहा गया है क्योंकि गायत्री को ब्रह्म का भी द्योतक माना गया है जैसा कि ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 1. 1. 25 में प्रतिपादित किया गया है "तथा चेतोऽर्पणनिगदात् — तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण, तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानम् अनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते — 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति।" "गायत्रीनामक छन्द के द्वारा गायत्री में अनुगत ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस ब्राह्मणवाक्य के द्वारा कही गई है।" भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में भी स्वयं को ('गायत्री छन्दसामहम्' भ. गी. 10. 35) गायत्री छन्द कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसा कहने से भी गायत्री की महिमा का बोध होता है। चौबीस अक्षरों वाली गायत्री के द्वारा जो प्रतिपादित होता है उसका बोध एकाक्षर ओम् से भी हो जाता है। इसलिये ओम् को गायत्री का सार कहा गया है।ओंकार की तीन मात्राएं (अ, उ, म्) प्रतिबिम्बरूप हैं तथा इनका बिम्ब (अधिष्ठान) अमात्रारूप तुरीय मात्रा भी इसी में संनिहित है। इसीलिये ओंकार को ब्रह्म का वाचक माना गया है।

'धर्म' शब्द् धृ धारणे धातु से निष्पन्न होता है। आत्मा के द्वारा सबको धारण किया जाता है। इसलिये आत्मा को धर्म कहा गया है।

गत श्लोक का निष्कर्ष यह है कि ओंकार ब्रह्म है। अतः सबका सनातन आधार है। अग्रिम श्लोक में ओंकार (प्रणव) की मात्राओं के अर्थों तथा उनके ज्ञान के फल का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

मात्राऽवस्था समाख्याता जानन्नेति त्रिधा गतिम्।
अमात्रो निर्गतिस्तुर्य आत्मा धर्मः सनातनः।।16।।

अन्वय तथा अर्थ — मात्रा = अ, उ तथा म् मात्राएँ, अवस्था = जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अथवा विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ की अवस्थाएँ, समाख्याता = समान कही गई हैं, जानन् = (इनको) जानने वाला, त्रिधा = तीन प्रकार की, गतिम् = गति को, एति = प्राप्त करता है। अमात्रः = मात्रा से शून्य अर्थात् मात्रारहित, निर्गतिः = गतिशून्य, तुर्यः = चतुर्थ (है)। (प्रणवरूप) आत्मा (सबका), सनातनः = नित्य, धर्मः = आधार (है)।

अनु० :- ओंकार (प्रणव) की तीन (अ, उ तथा मकार) मात्राएँ (जीव की जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के) समान कही गई हैं। इन तीन मात्राओं के ज्ञान से जीव को (विश्व, तैजस तथा प्राज्ञरूप) तीन प्रकार की गति प्राप्त होती हैं। (आत्मा की) चौथी (अवस्था) मात्राहीन तथा गतिशून्य है। (ऐसा ओंकाररूप) आत्मा (सबका) सदा रहने वाला आधार है।

व्या० :- जो अकार मात्रा की जाग्रदवस्था के साथ एकरूपता को जान लेता है वह इसी जन्म में अथवा जन्म लेकर समस्त विश्व के ऐश्वर्यों का उपभोग करता है तथा जगत् में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। विश्व का ज्ञान प्राप्त कर वह वैश्वानर के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है और स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से सम्पन्न होकर तेजःस्वरूप हो जाता है।

जिसे ओंकार की उकार तथा स्वप्नावस्था की एकरूपता का बोध हो जाता है। वह सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। साथ ही अणिमा आदि सिद्धियों को भी प्राप्त कर लेता है। तैजस का ज्ञान प्राप्त करके वह हिरण्यगर्भ के साथ तदात्म हो जाता है।

जो मकार तथा सुषुप्ति की एकरूपता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह एकाग्रता तथा निष्कामता से सम्पन्न हो जाता है। प्राज्ञ का ज्ञान प्राप्त करके वह अव्यक्त (ईश्वर) के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

ऊपर यह प्रतिपादन किया गया है कि प्रणव की तीन मात्राओं का ज्ञान तीन प्रकार की अवस्थाओं की उपलब्धि कराता है। आत्मा की चौथी अवस्था में मात्रा तथा गति का अभाव होता है। उसे तुरीयावस्था कहा जाता है। अब यह बताया जायेगा कि प्रणव प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गों में प्रयुक्त होता है। ओंकारस्वरूप आत्मा ज्ञानकाण्ड (वेदान्त) तथा कर्मकाण्ड (पूर्वमीमांसा) दोनों को केवल स्वीकार ही नहीं करता प्रत्युत सब प्रकार की उपासना तथा हर प्रकार की प्रवृत्ति (नास्तिक तथा आस्तिक) को भी संकलित कर लेता है।

ओमित्युक्त्वा प्रवर्तन्ते निवर्तन्तेऽथ ब्राह्मणाः।
ओं सर्वं स्वीकरोतीव, आत्मा धर्मः सनातनः।।17।।

अन्वय तथा अर्थ — ओम् = ओ३म्, इति = ऐसा, उक्त्वा = कहकर, ब्राह्मणाः = ब्राह्मण लोग, प्रवर्तन्ते = कर्म में प्रवृत्त होते हैं, अथ = तदनन्तर (ओ३म् कहकर ही), निवर्तन्ते = कर्म से निवृत्त (भी) होते हैं। ओम् = ओंकार, सर्वम् = सबको, स्वीकरोति इव = स्वीकार करता हुआ सा प्रतीत होता है (ओम् का एक अर्थ स्वीकार करना भी है)। आत्मा = (ओंकारस्वरूप) आत्मा, सनातनः = नित्य, धर्मः = आधार (है)।

अनु० :- प्रणव का उच्चारण करके ब्राह्मण लोग कार्य प्रारम्भ करते हैं और ओम् का उच्चारण करके हि कर्मों से निवृत्त (भी) होते हैं। ओम् (आत्मा) सब (विश्वास तथा प्रवृत्तियों) को स्वीकार करता हुआ सा प्रतीत होता है (ओम् का एक अर्थ 'स्वीकार करना' भी है। वास्तव में आत्मा विश्वास, प्रवृत्ति तथा उनकी स्वीकृति से सर्वथा अलग ही है)। ओंकाररूप आत्मा सबका नित्य आधार है।।17।।

व्या० :- जिनकी कर्म में निष्ठा है ऐसे ब्राह्मण लोग ओम् का उच्चारण करके कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं और निवृत्तिपरक ब्राह्मण भी ओम् का उच्चारण करके ही कर्मों से निवृत्त होते हैं। आत्मरूप ओंकार कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनों को स्वीकार करता है। ओंकार का एक अर्थ स्वीकृति भी होता है। वेद का अध्ययन करने वाले शास्त्रविहित यागहोमादि कर्मों का प्रारम्भ ओंकार का उच्चारण करके ही करते हैं जैसा भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं — "तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।" (भ. गी. 17.24)। विशेषतः निवृत्ति में निष्ठा रखने वाले प्रायः संन्यासी होते हैं। उनके लिये प्रणव के जप का ही विधान होता है। प्रणव के दीर्घ उच्चारण से व्यक्ति विषयों के चिन्तन से मुक्त होने में समर्थ हो जाता है। प्रणव का सतत जप करने से व्यक्ति के अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है और साथ ही आन्तरिक जड़ता भी समाप्त हो जाती है।

वेदों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है कि आत्मा अद्वैत है तथा सबका नित्य अधिष्ठान है। प्रणव की महत्ता का भी प्रतिपादन कर दिया गया है। उपर्युक्त प्रतिपादित विषय को अग्रिम श्लोक में अन्य शास्त्रों से युक्ति देकर पुष्ट किया जा रहा है —

स्फुरति विशति संविद् यत्र सकृद् विभातः
विविधविभवभावान् नेहते 'नेति नेति'।
अविदितविदिताभ्यामन्यताऽनन्य एव
अहमिति परिपूर्णप्रत्ययः प्रत्यगात्मा।।18।।

अन्वय तथा अर्थ — यत्र = जहाँ अर्थात् जिस आत्मा (ब्रह्म) में, संविद् = स्फुरणाभिमुख चैतन्य (व्यावहारिक चैतन्य) अथवा संवेदनरूप ज्ञान, स्फुरति = स्फुरित होता है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में 'तदैक्षत' रूपा ईश्वर की वृत्ति में प्रकट होता है, विशति = लय को प्राप्त होता है, (सः) = (वह आत्मा), सकृद् = एक बार, विभातः = प्रकाशित (होकर सदा ही प्रकाशमान रहता है)। 'नेति नेति' = 'ऐसा नहीं', 'ऐसा नहीं' (इस उपनिषद् के आदेश से), विविधविभवभावान् = अनेक प्रकार के ऐश्वर्य तथा भावों को, न = नहीं, ईहते = चाहता अर्थात् उनका निषेध करता है। अविदितविदिताभ्याम् = अज्ञात तथा ज्ञात दोनों से, (तस्यात्मनः) = (उस आत्मा की), अन्यता = विलक्षणता, (है)। (सः) = (वह), अनन्यः = अन्य से भिन्न अर्थात् स्वरूप, एव = ही (है)। अहम् = मैं, परिपूर्णप्रत्ययः = सब प्रकार के पूर्ण स्वरूप वाला, प्रत्यगात्मा = अन्तरतम आत्मा (हूँ), इति = समाप्तिद्योतक अव्यय।

अनु० :- जिस ब्रह्म में संवेदनरूप ज्ञान (सृष्टि के आरम्भ में 'तदैक्षत' श्रुति से लक्षित ईश्वरीय ईक्षणवृत्ति) स्फुरित होता है (तथा उसी में) लय को प्राप्त होता है, (वह आत्मा) एक बार (ही) प्रकाशित हुआ (अर्थात् स्वयं ही सदा एक रूप में प्रकाशमान है)। 'नेति नेति' रूप उपनिषद् के आदेश से अनेक प्रकार के ऐश्वर्य तथा भावों को (वह) नहीं चाहता अर्थात् स्वीकार नहीं करता। ज्ञात तथा अज्ञात दोनों से उसकी विलक्षणता है। (वह) अन्य से भिन्न अर्थात् निज स्वरूप ही है। मैं सब प्रकार से पूर्ण (अर्थात् परिपूर्ण) स्वरूप वाला सर्वान्तर आत्मा हूँ।

व्या० :- इस श्लोक में आए हुए कई शब्द व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। संविद्-शब्द का अर्थ संवेदनरूप ज्ञान है अथवा स्फुरणाभिमुख चैतन्य भी हो सकता है। यह समष्टि-अहंकार में स्फुरणरूप सृष्टिप्रक्रिया को लक्षित करता है और ब्रह्म के तटस्थ लक्षण (जन्माद्यस्य यतः) की ओर भी संकेत करता है अर्थात् ब्रह्म वह है जिसमें सृष्टि का जन्म, स्थिति तथा लय होता है। प्रत्यगात्मा में जाग्रदवस्था में वृत्तिरूप ज्ञान उदित होता है तथा सुषुप्ति में लीन भी हो जाता है। इस प्रकार 'स्फुरति विशति संविद्' वाक्य को समष्टि तथा व्यष्टि दोनों स्तरों पर समझ कर चिन्तन का अवलम्बन बनाया जा सकता है।

अर्थ की दृष्टि से श्लोक में 'सकृद्-विभातम्' पद्यांश ऐसा है जो व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।

अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं विमुक्तमोमिति।।

उपदेशसाहस्री 73 (19.1) के इस श्लोक में आए हुए 'सकृद्-विभातम्' पर टिप्पणी करते हुए वेदान्तसार की सुबोधिनी टीका में नृसिंह सरस्वती कहते हैं 'सकृदेकदैव विभातं सर्वदैकस्वरूपेण भासमानं चन्द्रादिप्रकाशवन्न वृद्धिक्षयशीलमित्यर्थः (एक ही बार प्रकाशित होकर वह सदा एक ही रूप में प्रकाशमान है। चन्द्रमा आदि के प्रकाश के समान उसमें वृद्धि और ह्रास नहीं हैं')। जाग्रदादि अवस्थाओं तथा तीनों कालों में प्रत्यगात्मा भासमान ही रहता है। जैसे आवरक मेघ सूर्य के द्वारा प्रकाशित होता है उसी प्रकार आवरणरूप अज्ञान भी प्रत्यगात्मा के द्वारा ही प्रकाशित होता है। 'सकृद्विभातः' पद्यांश का अनुवाद करते हुए इसी भाव को ध्यान में रखा गया है।

ईश्वर की ईक्षणवृत्ति के उदय होने पर वैविध्यपूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है। इसमें अनेक ऐश्वर्य तथा सर्वज्ञत्वादि भावों की सत्ता है। वास्तव में ब्रह्म में इनकी सत्ता है ही नहीं। 'नेति नेति' से यही दर्शाया गया है।

'अविदितविदिताभ्यामन्यतानन्यः' — यह पद्यांश भी व्याख्येय है। प्रत्यगात्मा की 'विदित' तथा 'अविदित' से 'अन्यता' (भिन्नता) होने पर ही श्रुति आत्मा को अनन्य कहती है अर्थात् आत्मा भेदशून्य है। अतः अद्वैत है। आत्मा के अद्वैत होने का तात्पर्य है कि वह सबका अपना स्वरूप ही है। यदि 'अन्यताऽनन्यः' में 'अन्यतया अनन्यः' इस प्रकार तृतीयातत्पुरुष समास मान लिया जाये तो भी 'अन्यता' का अन्वय 'अनन्य' में हो जाता है और इस प्रकार 'विदित' तथा 'अविदित' से अन्यता के कारण आत्मा अनन्य (अभिन्न) है अर्थात् सबका अपना स्वरूप ही है।

'अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि' पर केनोपनिषद् (1. 4) के शांकरभाष्य के सार का संग्रह 'अविदितविदिताभ्यामन्यता' श्लोकांश में विद्यमान है। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने 'अविदितादधि' में उपर्यर्थक 'अधि' का लक्ष्यार्थ 'अन्यद्' माना है। यह प्रसिद्ध ही है कि जो जिससे ऊपर होता वह उससे अन्य (भिन्न) होता है। जो व्याकृत, व्यक्त तथा दुःखात्मक है, वह 'विदित' कोटि में आता है क्योंकि वह ज्ञान का विषय बनता है। व्याकृत का मूल अव्याकृत 'अविदित' है क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं बनता। 'विदित' तथा 'अविदित' दोनों परस्पर परिच्छिन्न (सीमित) हैं और आत्मा (ब्रह्म) इनसे अन्य (आगे तथा ऊपर) है अर्थात् अपरिच्छिन्न है।

परिच्छिन्न भेदयुक्त होता है तथा अपरिच्छिन्न स्वभाव से ही भेदशून्य, अपरिच्छिन्न होने से (ब्रह्म) भेदशून्य, अद्वैत तथा सबका अपना ही स्वरूप है।

प्रत्यगात्मा वह है जो स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से भी और भीतर है और जो अन्तःकरण आदि को भी प्रकाशित करता है। इस पद्य में 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अनुभवरूप अर्थ अभिव्यक्त किया गया है। अन्तःकरण की चरम वृत्ति अर्थात् अखण्डाकारवृत्ति में उस अन्तरात्मा का अपरोक्ष अनुभव होता है कि मैं सब प्रकार से पूर्ण हूँ अर्थात् ब्रह्म हूँ।

यहाँ तक जो कुछ भी कहा गया है वह कपोल-कल्पित नहीं है प्रत्युत वेदों का यथार्थ आशय है। यह तथ्य अगले श्लोक में स्पष्ट किया जा रहा है और साथ ही आत्मचिन्तन की फलश्रुति का भी उल्लेख किया जा रहा है —

निगमगदिततत्त्वं प्रस्तुतं सत्यसत्यम्
अमृतमभयमेतद्भाव्यते भाग्यवद्भिः।
दमयति दमनीयं दक्षिणामूर्तिमौनं
गमयति पदमन्त्यं स्वस्तिमूलं मुमुक्षून्।।19।।

अन्वय तथा अर्थ — (उपरि) = (ऊपर), प्रस्तुतम् = प्रतिपादित, निगमगदिततत्त्वम् = वेदोक्त (शुद्ध चैतन्य) तत्त्व (है), सत्यसत्यम् = सत्य का (भी) सत्य है अर्थात् अतिशय सत्य या पारमार्थिक सत्य है, एतद् = यह, अमृतम् = आनन्दस्वरूप (अमरपद), अभयम् = अभयस्वरूप, भाग्यवद्भिः = भाग्यशालियों के द्वारा, भाव्यते = चिन्तन का आलम्बन बनाया जाता है। दक्षिणामूर्तिमौनम् = सद्गुरु शिव का मौन (शान्तभाव), दमनीयम् = दमन करने योग्य कामक्रोधादि का, दमयति = दमन करता है, (और) मुमुक्षून् = मुमुक्षुओं को, स्वस्तिमूलम् = कल्याण के हेतु, अन्त्यम् = परम, पदम् = पद (स्थान) (तक), गमयति = पहुंचाता है।

अनु० :- जो कुछ भी ऊपर प्रतिपादित किया गया है वह वेदोक्त तत्त्व है (और इसीलिये) पारमार्थिक सत्य (ही) है। यह अमृत (आनन्दमय तथा) अभयस्वरूप है तथा भाग्यशाली मनुष्यों के द्वारा (ही) चिन्तन का विषय बनाया जाता है। दक्षिणामूर्ति[29] शिव का मौन दमन करने योग्य कामक्रोधादि के ऊपर विजय प्राप्त

29. शिव एक रूप में सद्गुरु दक्षिणामूर्ति नाम से जाने जाते हैं। दक्षिणश्चासावमूर्तिश्च समास करने पर परमात्मा भी अर्थ होता है क्योंकि वे परमात्मा सृष्टि की रचना करने में कुशल होते हुए भी मूर्तिरहित (नीरूप) है। इसलिये दक्षिणामूर्ति कहे जाते हैं। दक्षिणशब्द का अर्थ अनुकूल, सरल तथा उदार होता है। इससे 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः' यह कथन भी यहाँ सूचित होता है।

करने में सहायता करता है तथा मुमुक्षुओं को कल्याण के हेतु परमपद की प्राप्ति कराता है।।19।।

व्या० :- सद्गुरु के सांनिध्य में श्रद्धापूर्वक रहने से उनकी कृपा से कल्याण का मूल परम पद प्राप्त हो जाता है। यह शंका हो सकती है कि संचित कर्म आदि के रहते हुए भूमासुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसके समाधान में छान्दोग्य उपनिषद् का यह कथन अवधेय है: यथा 'पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इस वाक्य से ज्ञात हो जाता है कि जिसे ब्रह्म का अनुभव हो जाता है उसको पाप आदि कर्म ऐसे ही स्पर्श नहीं करते जैसे कमलपत्र पर पानी नहीं ठहरता है। (यथा पुष्करपलाशे पद्मपत्रे आपो न श्लिष्यन्ते, एवं यथा वक्ष्यामि ब्रह्म, एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते न सम्बध्यते, छान्दोग्योपनिषद्भाष्य, 4.14.3)।

आत्मतत्त्व अतिसूक्ष्म तथा दुर्विज्ञेय है। आत्मतत्त्व के बोध के लिये पुनः-पुनः श्रवण तथा मनन करके परम तत्त्व में दृढ़ विश्वास प्राप्त करके निदिध्यासन में लग जाना चाहिये। पूर्व जन्मों में किये हुए पुण्यों का यह फल है कि मुमुक्षु परम सत्य की सतत भावना करने में लग जाता है। सत्कारपूर्वक दीर्घकाल तक इस अभ्यास में लगे रहना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि मनन से ब्रह्मगत असंभावना के दूर हो जाने पर भी विपरीत भावना का निरास कठिनता से होता है। इसी तथ्य को द्योतित करने के लिये दृष्टान्त के साथ पूर्वोक्त तथ्य को और अधिक दृढ़ता से प्रस्तुत किया जा रहा है —

परं स्वं स्वं परं मत्वा मृगवन् मृग्यते मृषा।
शाखाग्रे लक्ष्यते लीनः, धीरैरभ्युपलभ्यते।। 20।।

अन्वय तथा अर्थ — परम् = जड़ पदार्थ को, स्वम् = अपना आत्मा, स्वम् = आत्मा को, परम् = अन्य, मत्वा = समझकर, मृगवत् = मृग की तरह, मृषा = व्यर्थ, मृग्यते = अन्वेषण किया जाता है। शाखाग्रे = शाखा के अग्र भाग में, लीनः = छिपा हुआ, लक्ष्यते = दिखाई पड़ता है (और वह) धीरैः = धीर पुरुषों के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

अनु० :- शरीरादि को आत्मा समझकर तथा अपने आत्मा को अन्य (अपने से पृथक्) समझकर मनुष्य व्यर्थ में ही मृग के समान (सुख, सन्तोष आदि को ढूँढ़ता है)। (जैसे बच्चे को आकाश में द्वितीया का चन्द्रमा दिखाने के लिये पहले उसे) शाखा के अग्र भाग में (उसकी स्थिति लीन रूप में दिखाई जाती है तब वह चन्द्रमा वहाँ) लीन अर्थात् ढका हुआ दिखाई देता है। (उसी प्रकार पाँच कोशों से आच्छादित उपनिषदों तथा यहाँ 'आत्मचिन्तनम्' में शाखाग्र चन्द्र की तरह

क्रम से दिखाई पड़ने वाला आत्मा) धीर पुरुषों के द्वारा अनुभव का विषय बनाया जा सकता है।।20।।

व्या० :- मनुष्य अविद्या के कारण अपने शरीर आदि को ही आत्मा समझ कर व्यवहार में प्रवृत्त होता है। या फिर आत्मा को अपने से अन्य समझ कर उसे बाहर ढूँढ़ता है जैसे कस्तूरी मृग की नाभि में होती है परन्तु मृग उसे बाहर खोजता है लेकिन उसे बाहर कस्तूरी नहीं मिलती है। जैसे बालक को द्वितीया का चन्द्रमा दिखाने के लिये पहले बालक को वृक्ष की शाखा का अग्र भाग दिखाया जाता है। उसके बाद बालक को संकेतों के सहारे धीरे-धीरे आकाश में स्थित चन्द्रमा को दिखाया जाता हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में आत्मा का निरूपण किया गया है। यह शाखाग्र चन्द्र का दार्ष्टान्तिक है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय - इन पाँच कोशों से आत्मा आच्छादित रहता है - यह तथ्य 'लीन' शब्द से द्योतित किया गया है। अन्नमय सबसे बाहर शरीर के रूप में दिखाई देता है और आनन्दमय कोश सीधा आत्मा को ढके रहता है। द्वन्द्वरहित, कुशाग्रबुद्धि, शमदमादिसम्पत्ति से युक्त और समत्वबुद्धि से निष्काम कर्म करने वाले धीर मुमुक्षुओं के द्वारा पाँच कोशों में लीन आत्मा का अपरोक्ष अनुभव किया जाता है।

गत श्लोक का निष्कर्ष यह है कि धीर पुरुष ही सतत दीर्घकालीन साधना के अनन्तर आत्मा का साक्षात्कार कर पाते हैं। अब आत्मा की अपरोक्षानुभूति के पूर्व तथा पश्चात् की अवस्था संसार के संदर्भ में कैसी होती है? इसका अगले श्लोक में वर्णन किया गया है —

अस्मिन् बृहति ब्रह्माण्डे लघुरूपोऽहमीदृशः।
आत्मतत्त्वे तु विज्ञाते लघुरूपोऽयमीदृशः।।21।।

अन्वय तथा अर्थ — अस्मिन् = इस, बृहति = विशाल, ब्रह्माण्डे = विश्व में, अहम् = मैं, ईदृशः = ऐसा, लघुरूपः = छोटे रूप वाला, (अस्मि) = (हूँ)। च = और, आत्मतत्त्वे = आत्मतत्त्व के, विज्ञाते = सम्यक् रूप से ज्ञात हो जाने पर, अयम् = यह (संसार), ईदृशः = ऐसे, लघुरूपः = छोटे आकार वाला, (भवति) = (हो जाता है)।

अनु० :- (आत्मज्ञान से पूर्व मनुष्य संसार के संदर्भ में अपने को) इस विशाल संसार में 'मैं छोटे रूप वाला हूँ अर्थात् मैं छोटा हूँ' (ऐसा समझता है)। आत्मतत्त्व का अपरोक्ष अनुभव हो जाने पर (संसार के) लघुरूप का ज्ञान हो जाता है। (यह संसार ऐसे छोटे रूप वाला हो जाता है जैसे हथेली पर रखा हुआ आँवला होता है।)।।21।।

व्या० :- दक्षिणामूर्ति स्तोत्र के प्रथम श्लोक में यह बताया गया है कि यह सकल विश्व हमारे अन्दर विद्यमान है। वहाँ इसे एक दृष्टान्त से समझाया गया है। जब हम स्वप्न देखते हैं तब स्वाप्न वस्तुएँ तथा घटनाएँ हमें बाहर दिखाई देती हैं जबकि वास्तव में स्वप्न में वे हमारे अन्दर ही घटती रहती हैं। जब व्यक्ति जागता है तो विचार करने पर वह कहता है ये सब मेरे अन्दर ही थीं। ठीक इसी प्रकार यह संसार भी हमारे अन्दर ही है यह ज्ञान साक्षात्कारसंपन्न व्यक्ति को हो जाता है। यह तथ्य ही 'लघुरूप' शब्द से अभिव्यक्त किया जा रहा है। दृश्यमान सब कुछ आत्मा में अध्यस्त है। जैसे अधिष्ठानभूत रज्जु का ज्ञान हो जाने पर उस पर अध्यारोपित सर्प नष्ट हो जाता है। ऐसे ही ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर कल्पित प्रपञ्च बिना किसी प्रयास के विलीन हो जाता है। जीवन्मुक्त के अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिये ही 'लघुरूप' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में जीवन्मुक्त को लेकर अनेक पद्यों की रचना की जो बाबा श्रीमस्तरामजी में पूर्णरूप से चरितार्थ होते हैं। उनमें दो श्लोक इस प्रकार हैं: अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम्। औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।। साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः। समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते।। (विवेकचूडामणि, 433, 441)। इनका क्रमशः अर्थ इस प्रकार है : "जो अतीत का स्मरण नहीं करता, भविष्य के विषय में विचार नहीं करता तथा वर्तमान के विषय में उदासीन रहता है, वह जीवन्मुक्त है।" "सज्जनों के द्वारा पूजा किये जाने पर तथा दुर्जनों के द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी जो समभाव से रहता है, वह जीवन्मुक्त है।"

हरि ॐ तत् सत्

इत्यात्मचिन्तनम्

हिमालय के ऊँचे शिखरों के मध्य गढ़वाल क्षेत्र में समुद्रतल से 3133 मीटर (10279 फीट) की ऊंचाई पर उत्तराखण्ड के चमोली जनपद में अलकनन्दा नदी के तट पर श्रीबदरीनाथजी का मन्दिर स्थित है। यह मन्दिर भगवान् विष्णु को समर्पित है। इस मन्दिर में शालिग्राम (black granite) से बनी हुई प्रतिमा की पूजा होती है। ब्रह्माजी के मानस पुत्र धर्म के साथ दक्ष प्रजापति की पुत्री मूर्ति का विवाह हुआ। ब्रह्माजी के मानस पुत्र धर्म की पत्नी मूर्ति ने सहस्त्रकवच दैत्य के बारे में सुन रखा था। इस दैत्य का नाम दम्बोद्भव था। इसने सूर्यदेवता को प्रसन्न करने के लिये कठोर तपस्या की और अमर होने का वरदान न मिलने पर अपनी रक्षा के लिये एक सहस्त्र कवचों की सुरक्षा माँगी। इससे इसका नाम सहस्त्रकवच पड़ गया। इसका वध करने के लिये मूर्ति ने भगवान् विष्णु से प्रार्थना की वे इस दुष्ट दैत्य का नाश करें। इसी कारण से भगवान् विष्णु ने नर-नारायण के रूप में धर्मपत्नी मूर्ति के यहाँ जन्म लिया और तपस्या करने लिये हिमालय की ओर चल पड़े। जब वे अपने तप के लिये उचित स्थान ढूँढ़ रहे थे, तब उन्हें अलकनन्दा के समीप यह स्थान बहुत अच्छा लगा। भगवान् विष्णु तपस्या करने लग गये। जब तप करते हुए ध्यान में लीन थे तब हिमपात होने लगा। भगवान् विष्णु बर्फ से पूरी तरह ढँक चुके थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर लक्ष्मीजी का हृदय द्रवित हो उठा और उन्होंने स्वयं भगवान् विष्णु के समीप खड़े हो कर एक बदरी (बेर) के वृक्ष का रूप ले लिया और समस्त हिम को अपने ऊपर सहने लगीं। भगवान् विष्णु को धूप, वर्षा और हिम से बचाने की कठोर तपस्या में लक्ष्मीजी व्यस्त हो गयीं। कई वर्षों के बाद जब भगवान् विष्णु ने अपना तप पूरा किया तो देखा कि लक्ष्मीजी हिम से ढँकी पड़ी हैं तब उन्होंने लक्ष्मीजी की तपस्या को देख कर कहा कि "हे देवी! तुमने भी मेरे ही बराबर तप किया है सो आज से इस धाम पर मुझे तुम्हारे ही साथ पूजा जायेगा और क्योंकि तुमने मेरी रक्षा बदरी के वृक्ष के रूप में की है इसलिये आज से मुझे बदरी के नाथ, बदरीनाथ के नाम से जाना जायेगा।"

इस स्थान का आध्यात्मिक महत्त्व धार्मिक ग्रन्थों में पाया जाता है। यही कारण है कि बाबा श्रीमस्तरामजी को यह क्षेत्र अत्यन्त प्रिय था। तापमान इतना कम होने पर भी बाबाश्री एक चादर में ही वहाँ पर रहते थे। ऋषिकेश में रहने के बाद भी जब वर्षा ऋतु आती थी तो बाबाश्री एक ही चादर में नंगे पाँव बदरीनाथ के क्षेत्र में चले जाते थे। 'बदरीशस्तवनम्' की रचना उन्होंने यहाँ पर रहते हुए ही की थी। ऐसे संकेत इस रचना में उपलब्ध होते हैं। बाबाजी की प्रस्तुत रचना के अनुसार बदरीनाथजी कृतयुग से ही आज तक अपने भक्तों का कल्याण करने के लिये यहाँ विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस पावन क्षेत्र की जितनी महिमा की जाये वह थोड़ी है। ऐसे आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न प्रदेश में जाकर भगवान् से उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करने का औचित्य तो बनता ही है।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

अथ बदरीशस्तवनम्

कृत्वा पुराखिलजगत् खलु मूर्तिमद् वै
मूर्तेर्मुहुः स्वयमभूदपि मूर्तिमान् यः।
अद्यावधि कृतयुगाद् बदरीवनेऽस्मिन्
श्रेयो दधाति भगवान् स तु मद्विधानाम्।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — पुरा = बहुत पहले अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में, अखिलजगत् = समस्त जगत् को, खलु = सचमुच, वै = निश्चित रूप से (अथवा वाक्यालंकार), मूर्तिमद् = नाम तथा रूप वाला, कृत्वा = बना कर, यः = जो, मुहुः = फिर, स्वयम् = अपने आप, अपि = भी, मूर्तिमान् = (नर-नारायण के रूप में) मूर्तरूप वाले (सगुण), अभूत् = हो गये। अस्मिन् = इस, बदरीवने = बेरों के वन में, तु = तो, सः = वह, भगवान् = ईश्वर, कृतयुगात् = सत्य युग से लेकर, अद्यावधि = आज तक, मद्विधानाम् = मेरे जैसे भक्तों का, श्रेयः = कल्याण, दधाति = कर रहे हैं।

अनुवाद :- (बहुत) पहले अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में सकल जगत् को सचमुच नामरूप वाला बनाकर जो स्वयं (धर्म की पत्नी) माता मूर्ति से नर-नारायणरूप में अवतरित हुए। इस बदरीवन में (जहाँ बेरों के वृक्षों की बहुलता है) वह भगवान् सत्ययुग से लेकर आज तक मेरे जैसे (भक्तों) का कल्याण कर रहे हैं।

व्याख्या :- यह नामरूपात्मक संसार पहले नहीं था। यह जगत् असत् (अव्यक्त ब्रह्म के रूप में) था। वही अव्यक्त जगत् (ब्रह्म से) नामरूपात्मक (मूर्तिमान्) जगत् के रूप में उत्पन्न हुआ। कहने का तात्पर्य है कि उस अव्यक्त ब्रह्म से ही नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई अर्थात् जो भगवान् सृष्टि की रचना से पहले स्वयं अव्यक्त थे, वे नामरूपात्मक जगत् के रूप में प्रकट हुए और वे ही परमात्मा धर्म की पत्नी मूर्ति से नारायण रूप में अवतरित हुए। वे ही नारायण भगवान् सत्ययुग से आजतक यहीं बदरीवन में विराजमान हैं और मेरे जैसे व्यक्तियों का कल्याण कर रहे हैं। जिसमें काँटेदार झाड़ियाँ होती हैं ऐसा बदरीवन इस कण्टकाकीर्ण संसार का प्रतीक माना जा सकता है और श्रेय का अर्थ मोक्ष भी लिया जा सकता है। इस प्रकार बाबाश्री का यह अभिप्राय हो सकता है कि वे भगवान् हम जैसे प्राणियों को मुक्ति प्रदान करके कल्याण करते रहे हैं।

कठोपनिषद् के अनुसार श्रेय तथा प्रेय दोनों मनुष्य के पास आते हैं। उन दोनों में श्रेय का वरण वह मनुष्य करता है जो विवेकी तथा धीर होता है। बाबाजी धीरधौरेय हैं। इसलिये बाबाजी जैसे व्यक्ति तो श्रेय का ही वरण करते हैं और परमात्मा उनका कल्याण करते हैं। यह अर्थ भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

नारायण को भगवान् कहकर संबोधित किया गया है। भगवान् उसे कहते हैं जो ऐश्वर्य, वीर्य, कीर्ति, श्री, ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण हो अथवा उत्पत्ति, प्रलय, गति, आगति, विद्या तथा अविद्या के ज्ञाता को भगवान् कहते हैं। बाबाजी ने इस स्तुति में यह कहा है कि सृष्टि की रचना इन्हीं भगवान् के द्वारा हुई।

इस प्रसंग में भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि वैशेषिक मत में उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् माना जाता है। शून्यवादी भी ऐसा मानते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व आरम्भ में यह जगत् अद्वितीय असत् था अर्थात् सत् का अभावमात्र था। यहाँ श्रुति में उल्लिखित 'असत्' शब्द का यथार्थतः क्या अर्थ है? वैशेषिक दर्शन (असत्कार्यवाद), माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) आदि वाक्याभास, युक्त्याभास आदि को आधार बना कर श्रुति में आये हुए 'असत्' शब्द का अर्थ अपने मत के अनुकूल कर लेते हैं। यह संदर्भ विवेचन की अपेक्षा रखता है। सिद्धान्ती वाक्य तथा युक्ति को आधार बना कर श्रुति की व्याख्या करते हैं जबकि असत्कार्यवादी तथा शून्यवादी वाक्याभास तथा युक्त्याभास का सहारा लेते हैं।

'जीवो ब्रह्मैव आत्मत्वाद् ब्रह्मवत्' यह सदनुमानवाक्य है तथा इससे 'तत्त्वमसि' श्रुति का पूर्णरूपेण समर्थन होता है (आत्मा होने से जीव ब्रह्म है, ब्रह्म के समान)। यह युक्ति है। दूसरे विचारक इस प्रकार का अनुमान प्रस्तुत करते हैं 'देहादिरात्मा अहंप्रत्ययगोचरत्वाद् व्यतिरेकेण घटवत्' (अहंप्रतीति का विषय होने से देहादि आत्मा हैं, जो अहंप्रतीति का विषय नहीं है वह आत्मा नहीं है जैसे घटादि)। यह व्यतिरेकी अनुमान युक्ति न होकर युक्त्याभास है क्योंकि अहंप्रत्ययगोचर शरीर, इन्द्रिय, मन आदि में से कोई एक हो सकता है। यहाँ जो श्रुति में वाक्य जैसे दिखाई देते हैं उनको सम्यक् वाक्य मानकर अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या कर लेना जैसे जहाँ इन्द्रिय, मन आदि को आत्मा माना गया है सिद्धान्त मत तक पहुँचने के लिये वहाँ मन आदि को आत्मा मान लेना वाक्याभासरूप दोष माना गया है। अस्तु, श्रुति में सृष्टि के प्रारम्भ में सत् को भी कहा गया है और असत् को भी। यहाँ पर सत् तथा असत् परस्पर विरोधी हैं। इनकी युक्तिसंगत व्याख्या किस प्रकार की जाए ताकि असत् से सत् का भी ग्रहण हो सके। इस समस्या को लेकर श्रीशंकराचार्य ने छान्दोग्य श्रुति 6.2.1-2 पर अच्छा विचार किया है।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत। छान्दोग्योपनिषद् 6.2.1.

"हे सोम्य! आरम्भ में एक ही अद्वितीय सत् था। लेकिन उसी के विषय में कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि से पहले आरम्भ में एक अद्वितीय असत् था। उस असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई।"

इसके उत्तर में छान्दोग्य श्रुति 6.2.2 कहती है कि हे सोम्य! असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसलिये हे सोम्य! आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।

ऐतरेयोपनिषद् में सृष्टि को ईक्षणपूर्वक माना गया है :

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। 1.1

"पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था। इसके अतिरिक्त और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। उसने यह सोचा कि मैं लोकों की रचना करूँ।"

इस स्थिति में सृष्टि के आरम्भ में श्रुति में सत् तथा असत् दोनों को ही दर्शाया गया है। यदि असत् से भी सत् का ग्रहण हो जाता है तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा कि सृष्टि के आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई। इसको स्पष्ट करने के लिये श्रीशंकराचार्य ने भली-भाँति यह स्पष्ट कर दिया है कि असत् के श्रुति के द्वारा अभिप्रेत अर्थ को समझना आवश्यक है। 'सदेव' में 'सत्' सत्तामात्र का बोध कराता है और 'एव' अवधारणात्मक है। यह दृश्यमान नामरूपात्मक जगत् प्रारम्भ में सत् ही था। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि यह आरम्भ में सत् था तो अब इसका क्या स्वरूप है? इसका सीधा उत्तर यह हो सकता है कि इस समय यह जगत् व्याकृत (नामरूपात्मक) अवस्था में है। आरम्भ में यह अव्यक्त अवस्था में था। इसको समझाने के लिये श्रीशंकराचार्य सुषुप्ति की अवस्था का विवेचन करते हैं। सुषुप्ति से जागने वाला पुरुष केवल इतना जानता है कि सुषुप्ति में केवल सन्मात्र वस्तु थी उसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व जगत् था अर्थात् सन्मात्र जगत् था और अधिक स्पष्ट इस प्रकार कहा जा सकता है कि जगत् अव्याकृत अवस्था में था। वैशेषिक मतावलम्बी इस विषय में कहेगा कि उत्पत्ति से पूर्व जगत् एक अद्वितीय असत् अर्थात् सत् का अभावमात्र था। बौद्ध लोग इस सत् के अभावमात्र को तत्त्व मानते हैं अर्थात् शून्य मानते हैं जिसमें बाबाश्री ने असारता का कथन किया है (निराकारोऽपरिच्छिन्नः शून्यत्वे नैव सारता। आत्मचिन्तनम्, 12)। माध्यमिक शून्यवादी सत् की विरोधी कोई अन्य वस्तु नहीं मानते हैं जैसा कि नैयायिक लोग मानते हैं। उनके अनुसार गृहीत होने वाली यथाभूत सद्वस्तु और उससे विपरीत असद् वस्तु - ये क्रमशः 'सत्' तथा 'असत्' माने जाते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में सत् था जिसमें इदमात्मक नामरूपात्मक जगत् का अभाव था जिसको असत्-शब्द से अभिहित किया जा रहा है। उस सत् से यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ। इस नामरूपात्मक जगत् को भी सत्-शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार व्याख्या करने से श्रुति में आए हुए सत् तथा असत् - दोनों शब्दों का सही अर्थ संतोषजनक ढँग से समझाया जा सकता है।

इस विवरण से यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि प्रारम्भ में सृष्टि से पहले एकमात्र परम तत्त्व ही था और उसने इस सकल संसार की रचना की और इसको मूर्तरूप दिया। इसे व्याकृत किया अर्थात् इसे नाम तथा रूप दिया। फिर वे ही धर्म की पत्नी मूर्ति से नारायणरूप में अवतरित हुए। वे ही नारायण सत्ययुग से लेकर आज तक बद्रीवन में विद्यमान हैं और श्रेय के चाहने वालों को मोक्ष प्रदान करके उनका कल्याण कर रहे हैं।

वेदा हि प्राणप्रभवा भवतो भवन्ति
धर्मात् पुनः स्वयमभूद् यतिधर्मधारी।
सोऽयं तपस्तपति वा उपरामवृत्ति-
र्विष्णुर्विहाय कमलां कमलासनस्थः।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — प्राणप्रभवाः = प्राणों से उत्पन्न होने वाले, वेदाः = वेद, भवतः = आप से, हि = निश्चय रूप से, भवन्ति = (उत्पन्न) होते हैं। पुनः = फिर, यतिधर्मधारी = यतिधर्म का पालन करने वाले, स्वयम् = अपने आप, धर्मात् = धर्म से, अभूत् = (पुत्र के रूप में उत्पन्न) हुए। सः = वह, अयम् = यह, विष्णुः = भगवान् विष्णु, कमलाम् = लक्ष्मी को, विहाय = छोड़कर, कमलासनस्थः = पद्मासन में बैठे हुए, तपः = तपस्या, उपरामवृत्तिः = उपरति वृत्ति से युक्त होकर, तपति = तप कर रहे हैं।

अनु० :- प्राणों से उत्पन्न होने वाले वेद निश्चित रूप से आप से ही उत्पन्न होते हैं। फिर यति के धर्मों का पालन करने वाले आपने स्वयं धर्म (पिता) से (पुत्र के रूप में) जन्म लिया। वे ही भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी को छोड़कर विरक्त भाव से (नारायण के रूप में) पद्मासन में बैठे हुए तप कर रहे हैं।

व्या० :- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि परमेश्वर के ही निःश्वास हैं जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.10 में उल्लिखित है 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः'। प्रस्तुत श्लोक में बाबाश्रीमस्तरामजी ने यही कहा है कि ऋग्वेद आदि वेद भगवान् विष्णु से ही प्रकट हुए। फिर भगवान् विष्णु ने पिता धर्म से पुत्र के रूप में जन्म लिया और इन्होंने ही बद्रीनारायण के

रूप में यतियों के धर्म को अङ्गीकार करने का निर्णय किया। वैराग्यमय जीवन जीने के उद्देश्य से तपस्या करने का व्रत लिया। यद्यपि लक्ष्मी ने कहा था कि वे भी साथ चलेंगी परन्तु भगवान् ने कहा, 'यह संन्यास का अवतार है। इसी कारण से तुम साथ नहीं रह सकती हो।' ऐसा कहकर वे लक्ष्मीजी को छोड़कर आये थे और विषयों से सर्वथा उपरत होकर (अर्थात् वैराग्य से अनुप्राणित होकर) पद्मासन में बैठकर तपस्या में व्यापृत हो गये थे। भगवान् नारायण की तपस्या के दौरान लक्ष्मी ने बेर के वृक्ष के रूप में उनकी सेवा की।

बाबा मस्तरामजी के द्वारा बद्रीनारायण की जिस प्रकार से महिमा का वर्णन किया गया है उससे बद्रीनाथ क्षेत्र की महत्ता प्रकट होती है और साथ ही यह चित्रण आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले साधकों के लिये प्रेरणा देने वाला है। निश्चित रूप से इस स्तवन से प्रेरणा प्राप्त करके मुमुक्षु जन बद्रीनारायण के क्षेत्र में स्थित मन्दिर में जाकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्न करेंगे। संभवतः यही कारण है कि बद्रीनारायण के मन्दिर के दर्शन के लिये बाबाश्री के प्रेरणात्मक उद्गार सुनने को मिलते थे।

हास्याय ते स्तव इतो मनसोऽतिगोऽसि
कामादयस्तु हसितात् स्वमदं त्यजन्ति।
युक्ता हि कीर्तिरिति वै किल देवदेव
दीनं विहीनदयितं कुरु मां सनाथम्।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — (त्वम् = तुम) मनसः = मन से, अतिगः = परे, असि = हो, इतः = इसलिये, ते = आपकी, स्तवः = स्तुति, (तव = आपकी) हास्याय = हँसी के लिये (भवितुम् शक्नोति) = (हो सकती है)। तु = परन्तु, (तव = आपकी) हसितात् = हँसी के कारण, कामादयः = काम आदि, स्वमदम् = अपने घमण्ड को, त्यजन्ति = छोड़ देते हैं। देवदेव = हे देवाधिदेव! (तव = आपकी), इति = ऐसा, कीर्तिः = यश, हि = निश्चित रूप से, वै = समुचित, किल = वाक्यालंकार, (अस्ति = है)। दीनम् = (इस) गरीब को, विहीनदयितम् = जिसका अपना प्रिय सम्बन्धी कोई नहीं है, उसको, सनाथम् = सनाथ, कुरु = कीजिये।

अनु॰ :- आपकी स्तुति आपके लिये हँसी का कारण बन सकती है क्योंकि आप मन से परे हैं। परन्तु आपके हँसने के कारण काम, क्रोध आदि अपना यह घमण्ड छोड़ देते हैं कि वे अजेय हैं। (अर्थात् आपकी कृपा से वे सरलता से वश में किये जा सकते हैं।) हे देवाधिदेव ! आपका यह यश वास्तव में युक्तिसंगत है (क्योंकि आपकी हँसी के कारण निश्चित रूप से काम, क्रोध आदि वश में आ

जाते हैं)। (हे प्रभो!) प्रिय जनों से रहित इस दीन को सनाथ कीजिए (अर्थात् अपना लीजिये)।

व्या० :- प्रस्तुत श्लोक में भगवान् बद्रीनारायण की कृपा का प्रभाव बताया गया है। यह कहकर कि भगवान् अपनी स्तुति के ऊपर हँस सकते हैं। इससे यह व्यञ्जित होता है कि भगवान् प्रशंसा से ऊपर हैं। वे स्तुति से इस प्रकार प्रभावित नहीं होते जैसे संसार में लोग अपने यश को सुनकर उल्लसित हो जाते हैं और ऐसी कामना करते हैं कि बार-बार उनका इस प्रकार से कीर्तिगान हो। जब काम, क्रोध आदि परमात्मा की इस प्रकार की अवस्था को देखते हैं तो उनके अन्दर यह भय उत्पन्न हो जाता है कि भगवान् की कृपा के सामने तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इससे उनका घमण्ड चूर-चूर हो जाता है। बाबाश्री कहते हैं कि बद्रीनारायण की इस प्रकार की कीर्ति उचित ही है क्योंकि जिन पर बद्रीनारायण की कृपा होगी उन पर काम, क्रोध आदि किञ्चित् भी प्रभाव नहीं डाल पायेंगे। भगवान् के इस प्रकार के प्रभाव को मन में रखकर स्तुतिकर्ता बद्रीनारायण से प्रार्थना कर रहा है, 'हे प्रभो! मेरा कोई भी प्रिय सगा सम्बन्धी नहीं है। मैं अनाथ हूँ। कृपा करके दास के रूप में मुझे स्वीकार करके मुझे सनाथ बनाकर मुझ पर कृपा कीजिये।'

आत्मा त्वमेव जगतः प्रणयास्पदं च
तृप्ताऽखिला स्वतनुषु त्वनुरागयुक्ता।
जानन्ति ते न मृगवन् निजनाभिगन्धं
मायाचमत्कृतिरियं भवतो विचित्रा।।4।।

अन्वय तथा अर्थ — त्वम् = आप, एव = ही, जगतः = जगत् की, आत्मा = आत्मा (असि = हो), च = और, प्रणयास्पदम् = प्रेम का आश्रय (असि = हो)। अखिला = सकल (सृष्टि अथवा प्रजा), तु = तो, स्वतनुषु = अपने शरीरों में, अनुरागयुक्ता = प्रेम करती है, तृप्ता = तृप्त (है)। ते = वे, मृगवत् = (कस्तूरी) मृग के समान, निजगन्धम् = अपनी गन्ध को, न = नहीं, जानन्ति = जानते हैं। इयम् = यह, भवतः = आपकी, विचित्रा = विचित्र, मायाचमत्कृतिः = माया का चमत्कार, (अस्ति = है)।

अनु० :- आप ही जगत् के आत्मा हो और आप सबके प्रेम[1] का आश्रय हो। इसीलिये सब प्राणी अपने शरीरों में प्रीति रखते हैं तथा उनमें तृप्त रहते हैं। जैसे कस्तूरी मृग अपनी नाभि की गन्ध को नहीं जानता (ठीक वैसे ही) वे सब जीव

1. प्रणयास्पदोऽतः। पाठान्तर। प्रणयास्पदः का अर्थ है - प्रेम, भक्ति है साधन जिसकी प्राप्ति का। इसके लिये देखें भवान् भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम्। स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः।। भागवत, 4.24.54.

अपने प्रेम तथा तृप्ति के आधार अपने (आनन्दस्वरूप) प्रत्यगात्मा को नहीं जानते हैं। यह आपकी माया का विचित्र चमत्कार है।

व्या॰ :- भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को कहते हैं कि "हे अर्जुन ! ईश्वर सब जीवों के हृदयाकाश में विराजमान है।" आनन्द के स्रोत सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् के हृदय में विद्यमान होने पर भी जीव इन्द्रियों के विषयों में सुख को ढूँढ़ता रहता है क्योंकि माया के कारण वह अपने अन्दर के आनन्द से बेख़बर रहता है जैसे कस्तूरीमृग अपनी नाभि में विद्यमान गन्ध को न जानने के कारण उस कस्तूरी की गन्ध को बाहर ढूँढ़ता है परन्तु बाहर उसको वह उपलब्ध नहीं होती है। यही हाल सब प्राणियों का है कि अपने अन्दर विद्यमान आनन्द के स्रोत से बेख़बर हैं और इसी कारण बाहर सुख तथा तृप्ति का अन्वेषण करते रहते हैं परन्तु वे स्थायी सुख से सदा ही वञ्चित रहते हैं। ब्रह्म का अनुभव करने पर साक्षात्कारसम्पन्न महापुरुष आनन्द में सराबोर रहते हैं। वे नित्य ही अपने पारमार्थिक स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। उन्हें निश्चित रूप से इस आश्चर्य की अनुभूति होती होगी कि जीव इन्द्रियजन्य सुख की ओर ही आकृष्ट रहता है। वह सुख जो पारमार्थिक आनन्द की अल्प सी मात्रा पर आधारित होता है सब जीवों को आकर्षित किये रहता है। इस प्रकार के आश्चर्य की अनुभूति के फलस्वरूप ब्रह्मवेत्ता महापुरुष प्राणियों के कल्याण के विषय में विचार करते रहते हैं और ऐसे उपायों का अन्वेषण करते रहते हैं जिनसे भूला भटका प्राणी आत्मान्वेषण के मार्ग की ओर चलने लगे। जो भी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक उनकी शरण में जाता है उसको वे उस मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करते हैं और शरणापन्न व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार साधन का मार्ग बताते हैं जिस पर चल कर वह अपने पारमार्थिक स्वरूप को पहचानने में सफल हो सके। 'बदरीशस्तवनम्' जैसी रचनाओं का प्रयोजन भी यही होता है कि प्राणी इन कृतियों में प्रतिपादित तथ्यों से परिचय प्राप्त करने के अनन्तर परमात्मा के विषय में चिन्तन प्रारम्भ कर दे। ब्रह्मविद् के द्वारा रचित कृतियों में ऐसी प्रभावोत्पादक शक्ति होती है कि संसार के दुःखों की अग्नि से झुलसे हुए व्यक्ति को शीघ्र ही यह बोध करा देती है कि उसका कल्याण कहाँ है और वह ऐसी रचनाओं में प्रतिपादित सिद्धान्तों को जीवन में उतारने के लिये उद्यत हो जाता है।

अग्रिम श्लोक में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि परमात्मा के अलौकिक स्वरूप के प्रति दैत्यों का कैसा भाव होता है और जिनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल है तथा सदैव परमात्मा के ध्यान में मग्न रहता है ऐसे सिद्ध ऋषिजनों का परमात्मा के प्रति कैसा भाव होता है?

दैत्यास्तु भीतिविकला भवतः स्वरूपं
दृष्ट्वा द्रवन्ति विमुखास्तमसः स्वभावात्।
सिद्धास्तु शुद्धमतयो मुनयो नमन्ति
सर्वेऽपि कौशिकसमाः सवितुः प्रकाशम्।।5।।

अन्वय तथा अर्थ — भवतः = आपके, स्वरूपम् = स्वरूप को, दृष्ट्वा = देखकर, दैत्याः = दैत्य, तु = तो, तमसः = तमोगुण के, स्वभावात् = स्वभाव के कारण, भीतिविकलाः = डर से व्याकुल (होकर), विमुखाः = (आपसे) विमुख (होकर), सवितुः = सूर्य के, प्रकाशम् = प्रकाश को (देखकर) कौशिकसमाः = उल्लू के समान, द्रवन्ति = भाग जाते हैं। कौशिकसमाः = विश्वामित्र के समान, सर्व = सब, अपि = भी, सिद्धाः = सिद्ध, तु = तो, शुद्धमतयः = पवित्र बुद्धि वाले, मुनयः = मुनि लोग, सवितुः = सूर्य के, प्रकाशम् = प्रकाश को, नमन्ति = नमस्कार करते हैं।

अनु० :- तामसिक स्वभाव वाला होने के कारण आपके स्वरूप को देखकर भय से व्याकुल आप से विमुख होकर दैत्य तो भाग जाते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश को देखकर उल्लू भाग जाते हैं। शुद्ध बुद्धि वाले सिद्ध मुनिजन तो विश्वामित्र के समान सविता के प्रकाश के समान आपके स्वरूप को नमन करते हैं अर्थात् आपके सम्मुख बने रहते हैं।

व्या० :- 'कौशिकसमाः' समस्तपद में कौशिकशब्द के कई अर्थ होते हैं। वर्तमान संदर्भ में दो अर्थ ही प्रासंगिक हैं - विश्वामित्र तथा उल्लू। जैसे उल्लू सूर्य के प्रकाश को नहीं देख सकते और वे प्रकाश से विमुख रहते हैं। इसलिये दैत्यों की तुलना उल्लू-पक्षियों से की गई है। उल्लू प्रकाश के सामने नहीं आ पाते क्योंकि प्रकाश उनको सहन नहीं होता है। दैत्य तमोगुण के स्वभाव वाले होते हैं। तमोगुण के स्वभाव के कारण दैत्यलोग भगवान् नारायण के अलौकिक प्रकाश को सहन नहीं कर पाते। इसलिये वे नारायण से विमुख होकर भाग जाते हैं जैसे उल्लू प्रकाश से विमुख होकर प्रकाश से दूर चले जाते हैं। श्लोक में आया हुआ 'सर्वेऽपि' पद्यांश सिद्ध मुनियों तथा दैत्यलोगों दोनों का परामर्श करने लिये बाबाश्री के द्वारा प्रयुक्त किया है क्योंकि एक बार प्रयुक्त हुआ 'कौशिकसमाः' समस्त पद दोनों पक्षों में समन्वित होकर प्रसंग के अनुकूल अपने अर्थ को व्यक्त करेगा। इस प्रकार यहाँ श्लेष अलंकार है। दैत्यों के पक्ष में 'कौशिक' का अर्थ 'उल्लू' होगा और सिद्ध पुरुषों के प्रसंग में 'कौशिक' शब्द 'विश्वामित्र' अर्थ को अभिव्यक्त करेगा। तमस् तथा प्रकाश का विरुद्ध स्वभाव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ तमस्

(अन्धकार) होगा वहाँ प्रकाश का तो अभाव ही होगा, प्रकाश की वहाँ सत्ता ही नहीं होगी। इसलिये यह कहा गया कि दैत्यलोगों का तमोगुणी स्वभाव होता है। वे परमात्मा की ज्योति के समक्ष ठहर ही नहीं सकते हैं। वे भगवान् के सामने टिक ही नहीं पाते हैं। इसलिये परमात्मा के अलौकिक तेजोमय स्वरूप को देखकर भाग जाते हैं। दूसरी ओर जिनकी बुद्धि पूरी तरह से निर्मल हो गई है ऐसे सिद्ध मुनिगण परमात्मा के प्रकाश के दर्शन के लिये लालायित रहते हैं। सत्त्वगुणी विमल प्रज्ञा वाले सिद्ध पुरुष सूर्य से भी उत्कृष्ट नारायण के प्रकाश को नमन करने के लिये तीव्र अभिलाषा लिये रहते हैं। उन्हें नमन करने के लिये उत्सुक रहते हैं और उनके सम्मुख बने रहने की इच्छा उनमें सदैव रहती है।

[2]भोक्ताऽसि भावितगतिः पतिरिन्द्रियाणां
चैतन्यमिष्टघनवत् स्वयमेव भोगः।
सर्वत्र वा मधुरता भवतां भवद्वत्
कर्मादिविकृतिवतां न तु सा विभाति।।6।।

अन्वय तथा अर्थ — इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के, पतिः = स्वामी, भावितगतिः = कल्पित गति वाले, भोक्ता = भोगने वाले, असि = हो। चैतन्यमिष्टघनवत् = चैतन्यरूपमाधुर्यघन के समान (अर्थात् चैतन्यमयी मिठाई के समान), स्वयम् = आप, एव = ही, भोगः = भोग (हो)। भवद्वत् = आपकी तरह, वा = अथवा, सर्वत्र = सब जगह, भवताम् = आपका, मधुरता = माधुर्य, सा = वह, तु = तो, कर्मादिविकृतिवताम् = कर्म आदि के विकार से विकृत व्यक्तियों के, न विभाति = अनुभव का विषय नहीं बनता है।

अनु० :- (हे नारायण !) आप इन्द्रियों के स्वामी हैं। (इसलिये) आप भोक्ता हैं। (वास्तव में तो आप निष्क्रिय हैं परन्तु) आपमें गति की कल्पना की गई है। चैतन्यरूप माधुर्यघन (मिठाई) के समान आप स्वयं ही भोग हैं। अथवा आपके समान आपका माधुर्य सर्वत्र अनुभव का विषय बनता है परन्तु वह माधुर्य कर्म आदि के विकार से विकृत लोगों के अनुभव का विषय नहीं बनता है। (विकृतियों के कारण हम अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव नहीं कर पाते हैं)।

व्या० :- हे नारायण ! आप सर्वत्र व्याप्त हैं जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है: ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यचिद् धनम्।। परमात्मा सभी जीवों के हृदय देश में रहकर सब जीवों

2. भोक्ताऽस्ति। पाठान्तर।

के ऊपर शासन करने वाले हैं तथा उनके द्वारा सब कुछ आच्छादित है अर्थात् वे कण-कण में व्याप्त हैं। इसलिये सबको त्यागपूर्वक अपना जीवन जीना चाहिये और किसी के धन की कामना नहीं करनी चाहिये। परमात्मा सब प्रकार की क्रियाओं से रहित हैं परन्तु फिर भी उनमें क्रिया की कल्पना की गई है। इसलिये वे भावित (कल्पित) गति वाले हैं। इसी कल्पित गति के कारण आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रतीत होते हैं। यही परमात्मा में जगत् का अध्यारोप है। इस प्रकार के द्वैतरूपी विकार के कारण नारायण का स्वाभाविक स्वरूप विस्मृत हो जाता है। इस वाञ्छनीय स्मृति को जागृत करने के लिये बाबाश्री ने प्रस्तुत पद्य की रचना की है। हे नारायण ! आप चैतन्यघन तथा एक हो। साथ ही आनन्दस्वरूप होने के कारण माधुर्यघन भी आप ही हैं। इस कारण से यह कहा जा सकता है कि चैतन्य होने के कारण आप स्वयं अपने भोग भी हैं। आप आनन्दस्वरूप हैं। अतः आपकी तरह आपका आनन्द भी सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु कर्म आदि की विकृतियों के कारण विकृत मन वाले व्यक्तियों के द्वारा उस आनन्द का अनुभव नहीं किया जा सकता। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, आनन्द चाहता है और नारायण आनन्दस्वरूप हैं। इसलिये आनन्दस्वरूप होने के कारण हमें परमात्मा का ही ध्यान करना चाहिये क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा विषयजन्य सुख नित्य नहीं है। उस सुख के प्रति हम सबमें विरक्ति का भाव होना चाहिये।

नामाऽपि ते च मधुरं मधुरं स्वरूपं
कर्माऽपि ते च मधुरं मधुरा स्मृतिश्च।
बुद्धिं प्रबोधय प्रभो मधुबोधशक्तिं
भक्तिं प्रयच्छ परमां परिभावयामि।।7।।

अन्वय तथा अर्थ — ते = आपका, नाम = अभिधान, अपि = भी, मधुरम् = मधुर अर्थात् सुखद, (है)। च = और, ते = आपका, स्वरूपम् = स्वरूप (भी), मधुरम् = मधुर (है), कर्म = आपके द्वारा किया हुआ सब कुछ, अपि = भी, मधुरम् = आनन्ददायक, च = और, (आपकी) स्मृतिः = स्मरण, मधुरा = सुखदायक (है)। प्रभो = हे नारायण !, मधुबोधशक्तिम् = आनन्द को अनुभव करने की शक्ति है जिसमें उसको, (ऐसी) बुद्धिम् = (हमारी) बुद्धि को, प्रबोधय = जागृत कीजिये, परमाम् = परम, उत्कृष्टतम, भक्तिम् = भक्ति को, प्रयच्छ = सम्यक् रूप से दीजिये, परिभावयामि = (ऐसी) सब प्रकार से भावना करता हूँ।

अनु० :- आपका नाम माधुर्यपूर्ण है। आपका स्वरूप भी आनन्ददायक है। जो कुछ भी आपके द्वारा किया गया है वह भी सुखद है। आपका स्मरण आनन्द देने वाला है।

हे प्रभो ! आनन्द का अनुभव करने की शक्ति से सम्पन्न बुद्धि को प्रेरित कीजिये। परम भक्ति प्रदान कीजिये - ऐसा मैं सम्पूर्ण भावना के साथ प्रार्थना करता हूँ।

व्या० :- गत श्लोक में परमात्मा के आनन्दस्वरूप का उल्लेख हुआ था। प्रस्तुत श्लोक में उसका विस्तार किया जा रहा है यह कह कर कि परमात्मा का सब कुछ माधुर्यपूर्ण है। परमात्मा का नाम लेने में अत्यन्त सुख की अनुभूति होती है। परमात्मा आनन्दस्वरूप हैं तथा जो कुछ भी उनके द्वारा किया जाता है वह सब कुछ आनन्द से सराबोर है। परन्तु हम सबमें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम उस सर्वत्र व्याप्त आनन्द का अनुभव करने में सफल हो सके। इसका कारण है कि स्वयंभू ने हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है। इसके कारण उनकी प्रवृत्ति बाहर की ओर ही रहती है और वे बाहर की ही वस्तुओं में सुख को ढूँढ़ती रहती हैं। परन्तु आनन्दस्वरूप आत्मा के विषय में हमारा व्यवहार कस्तूरी मृग के समान होता है क्योंकि जैसे कस्तूरी मृग कस्तूरी की गन्ध को बाहर ढूँढ़ता रहता है जबकि कस्तूरी की गन्ध उसकी नाभि में ही विद्यमान रहती है। ठीक वैसे ही हम सुख अथवा आनन्द बाह्य विषयों में ढूँढ़ते रहते हैं जबकि आनन्द का स्रोत हमारे हृदयाकाश में विद्यमान है। इस दुस्तर स्थिति को लेकर परमात्मा से प्रार्थना की जा रही है कि वे हमें भक्ति प्रदान करें तथा साथ ही हमारी बुद्धि को ऐसा सामर्थ्य प्रदान करें जिससे हम परमात्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभव करने के योग्य बन जायें।

कर्मादिदोषदहनो दुरिताय चाग्निः
अन्तःप्रमादप्रभवे तमसेऽस्ति सूर्यः।
ज्ञानोष्णताप्रशमनः परमो हिमांशुः
सोऽसौ प्रकाशयतु वै हृदयेऽस्मदीये।।8।।

अन्वय तथा अर्थ — दुरिताय = पाप के लिये, कर्मादिदोषदहनः = कर्म आदि से उत्पन्न दोषों का दहन करने वाली, अग्निः = आग (है)। अन्तःप्रमादप्रभवे = आन्तरिक प्रमाद से उत्पन्न होने वाले अन्धकार के लिये, सूर्यः = आदित्य (है)। ज्ञानोष्णताप्रशमनः = ज्ञान की अग्नि से उत्पन्न होने वाली गर्मी को शान्त करने वाले, परमः = उत्कृष्ट, हिमांशुः = चन्द्रमा (है)। सः = वह, असौ = वह, अस्मदीये = हमारे, हृदये = हृदय में, प्रकाशयतु = प्रकाशित हो, वै = अनुनयसूचक अव्यय।

अनु० :- (भगवान् बदरीनारायण) पापकर्म के लिये कर्म आदि से उत्पन्न दोषों को जलाने वाली अग्नि हैं। आन्तरिक आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न होने वाले अन्धकार के लिये वे सूर्य हैं। ज्ञान से उत्पन्न होने वाले अभिमान (गर्मी) को शान्त करने के लिये वे उत्कृष्ट चन्द्रमा हैं। (हम विनति करते हैं कि) वे हमारे अन्तःकरण में प्रकाशित हों।

व्या० :- गत श्लोक में परमात्मा के आनन्दस्वरूप का प्रतिपादन किया गया था और छठे श्लोक में यह कहा गया था कि कर्म आदि के विकार से विकृत व्यक्तियों के लिये वह आनन्द अनुभव का विषय नहीं बन पाता है। लेकिन इस पद्य में यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि उनकी भक्ति करने से वे भक्त के ऊपर अनुग्रह करते हैं और कर्मादि से उत्पन्न होने वाले पापों को भी नष्ट कर देते हैं जो आचरण को दुष्ट बनाने के कारण आनन्द की अनुभूति में व्यवधान बनते हैं। अपनी कृपा से वे हमारे आन्तरिक प्रमाद से होने वाले अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर देते हैं और साथ ही ऐसे अभिमान को भी दूर करने की शक्ति प्रदान करते हैं जो अल्प सा ज्ञान हो जाने पर भी हमारे मन में घर कर लेता है। थोड़े से ज्ञान की झलक मिलने पर हम स्वाभाविक रूप से घमण्ड करने लगते हैं और हमारी बुद्धि में ऐसा सामर्थ्य नहीं रहता जिससे हम परमात्मा के आनन्द का अनुभव कर सकें। ऐसे ज्ञान की गर्मी को शान्त करने के लिये परमात्मा उत्कृष्ट चन्द्रमा के समान व्यवहार करते हैं। बाबाजी भक्त को प्रेरित कर रहे हैं कि वह भावविभोर होकर परमात्मा से प्रार्थना करे कि वे उसके अन्तःकरण में प्रकट हो जायें ताकि उनका आनन्दस्वरूप विनयकर्ता के अनुभव का विषय बन जाये।

[3]नाशादिशून्यवदनं किल कीर्तिमन्तं
कृष्णं परन्तु परमं सुभगं शरीरम्।
लक्ष्म्यादिसेवितपदं प्रथितं निरीहं
वन्दे विनीतशिरसा बदरीविशालम्।।9।।

अन्वय तथा अर्थ — नाशादिशून्यवदनम् = नाशादि छः प्रकार के विकारों से रहित है स्वरूप जिनका, किल = निश्चित रूप से, कीर्तिमन्तम् = यशस्वी को, परन्तु = लेकिन, कृष्णम् = कृष्ण रूप वाले, परमम् = अत्यन्त, सुभगम् = सुन्दर, शरीरम् = शरीर (वाले को)। लक्ष्म्यादिसेवितपदम् = जिनके चरणों की सेवा लक्ष्मी आदि के द्वारा की गई उनको, प्रथितम् = प्रसिद्ध को, निरीहम् = निष्क्रिय को, क्रियारहित को। बदरीविशालम् = बदरीविशाल को, विनीतशिरसा = विनय से मस्तक झुका कर, वन्दे = प्रणाम करता हूँ।

अनु० :- नाश आदि छः विकारों से रहित स्वरूप वाले होते हुए आप निश्चित रूप से यशस्वी हैं। (नासिका आदि से रहित मुख होने पर भी आप यशस्वी हैं) परन्तु श्याम वर्ण वाले होते हुए भी आपका शरीर अत्यन्त सुन्दर है। लक्ष्मी आदि से सेवित चरण वाले निष्क्रिय होते हुए भी आप प्रसिद्ध हैं। (ऐसे) बदरीविशाल को मैं विनयपूर्वक नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ।

3. नासादिशून्यवदनं = नासिकादि रहित मुख वाले। पाठान्तर।

व्या० :- परमात्मा स्वरूपतः उत्पत्ति, विनाश आदि छः प्रकार के विकारों से रहित होते ही हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि बिना किसी व्यावहारिक कर्म के परमात्मा की प्रसिद्धि तो है ही। यह उनकी भगवत्ता का प्रतीक है। दूसरा पाठभेद अर्थ में परिवर्तन प्रदर्शित करता है। व्यावहारिक जगत् में ऐसे व्यक्ति को अपयश का भागी माना जाता है जिसके मुख पर नासिका आदि न हों। बदरीनारायण की प्रतिमा में भी नासिका आदि स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देती हैं। उस तथ्य को दर्शाने के लिये बाबा श्रीमस्तरामजी ने बदरीनाथजी के लिये 'नासादिशून्यवदनम्' प्रयोग किया है और साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि 'फिर भी उनकी कीर्ति में कोई कमी नहीं है'। संभवतः किसी कारणवश[4] बाबाश्री ने यहाँ बदरीनारायण के प्रति अपने असीम प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये व्यंग्य में ऐसा प्रयोग किया हो। श्लोक में प्रयुक्त 'कृष्णम्' पद को भी इसी भाव से देखा जा सकता है। बदरीनारायणजी की प्रतिमा काली है। प्रेमाभिव्यक्ति में व्यंग्य का प्रयोग प्रायः देखने को मिलता है। इसलिये यह कहा जा सकता है 'आप काले (कृष्ण) हो'। लेकिन भगवान् को 'कृष्ण' इसलिये भी कहा जाता है कि वे भक्तों के पापों को आकृष्ट (खींच) करके नष्ट कर देते हैं। यह अर्थ आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखता है और भक्त के प्रसंग में परमात्मा की महिमा का भी बखान करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखने पर तो परमात्मा के शरीर के सौन्दर्य के उत्कर्ष की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। अग्रिम वर्णन भी बदरीनारायणजी की महिमा के उत्कर्ष का समर्थन करता है जब यह कहा जाता है कि उनके चरणों की सेवा लक्ष्मी आदि के द्वारा की जाती है और वे किसी भी प्रकार की क्रिया न करने पर भी प्रसिद्ध हैं।

दुष्टः सहस्रकवचो[5] भवता विनष्टो
हृष्टाः सुराः सुचरितैः ऋषयश्च तुष्टाः।
पुष्टा जनास्तव कथामृतपानपूताः
भूताऽत्र कीर्तिरिति वै परमप्रकृष्टा।।10।।

अन्वय तथा अर्थ — दुष्टः = दुष्ट, सहस्रकवचः = सहस्रकवच दैत्य, भवता = आपके द्वारा, नष्टः = मार दिया गया। (आपके) सुचरितैः = रमणीय आचरण

4. प्रतिदिन की तरह एक बार बाबाजी भगवान् बदरीनारायण का दर्शन करने के लिये मन्दिर में जाने के लिये मन्दिर के द्वार पर खड़े हुए। लेकिन उस दिन द्वार पर पहरा देने वाले द्वारपाल ने बाबाजी को अन्दर जाने से रोक दिया। इस कारण बाबाजी भगवान् बदरीनारायण के दर्शन नहीं कर पाये। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ लेकिन मन्दिर में बैठे पुजारी ने बाबाजी को द्वार पर देख लिया और उन्होंने द्वारपाल को इशारे से कहा कि वह बाबाजी को अन्दर आने दे। गत दिवस की घटना को ध्यान में रखते हुए बाबाश्री ने व्यंग में ' नासादिशून्यवदनम्' प्रयोग कर दिया होगा। साथ ही पाठान्तर के विकल्प का प्रावधान भी कर दिया। देखें आदरणीय मधुकरजी द्वारा रचित 'अभिराम श्रीमस्तरामबाबाजी का साधुचरित' पृष्ठ, 149-52.

5. दक्ष प्रजापति की पुत्री धर्म की पत्नी मूर्ति ने सहस्रकवच दम्बोद्भव दैत्य के बारे में सुन रखा था। इस दैत्य के वध के लिये मूर्ति ने भगवान् विष्णु से प्रार्थना की। इसलिये भगवान् विष्णु धर्म की पत्नी मूर्ति से नर-नारायण के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने सहस्रकवच के वध के लिये बदरीवन में तपस्या प्रारम्भ कर दी।

से, सुराः = देवता, हृष्टाः = प्रसन्न हो गये, च = और, ऋषयः = ऋषिगण, तुष्टाः = सन्तुष्ट हो गये। तव = आपकी, कथामृतपानपूताः = कथारूपी अमृत के पीने से पवित्र हुए, जनाः = भक्तलोग, पुष्टाः = पुष्ट हो गये। अत्र = यहाँ, इहलोक में, परमप्रकृष्टा = बहुत ही उदात्त, कीर्तिरिति = ऐसा यश, वै = निश्चित रूप से, भूता = व्याप्त हो गया।

अनु० :- दुष्ट सहस्त्रकवच दम्बोद्भव नामक दैत्य आपके द्वारा मार दिया गया। आपके (इस) रमणीय आचरण से देवता प्रसन्न हो गये थे और ऋषिगण सन्तुष्ट हो गये थे। आपके कथारूपी अमृत के पान से भक्तलोग शक्तिसम्पन्न हो गये थे। इस लोक में आपका उदात्त यश निश्चितरूप से (भली-भाँति) व्याप्त हो गया था।

व्या० :- पौराणिक कथा के अनुसार दम्बोद्भव नामक दैत्य ने सूर्यदेव की बड़ी तपस्या की और इस तपस्या के फलस्वरूप वरदान के रूप में उसने अमर होने का वर मांगा परन्तु सूर्यदेव ने अमर होने का वरदान नहीं दिया। ऐसा होने पर उसने अपने लिये एक हजार दिव्य कवचों की सुरक्षा मांगी। सूर्यदेव ने यह वर दे दिया। इसलिये इस दैत्य का नाम सहस्त्रकवच पड़ गया। इस दुष्ट राक्षस के पास हजार कवचों की सुरक्षा थी परन्तु उसका एक कवच नष्ट करने के लिये एक हजार वर्षों की तपस्या करनी पड़ती थी। उसका बदरीवन में नर-नारायण से युद्ध हुआ। युद्ध में उसके 999 कवच नष्ट हो गये थे। जब उसका एक कवच शेष रहा तब वह उस एक कवच के साथ ही सूर्यदेव की शरण में चला गया क्योंकि उस कवच के नष्ट हो जाने पर उसकी मृत्यु हो जाती। वह दैत्य ही दूसरे जन्म में कर्ण हुआ। इस कारण से ही वह नर तथा नारायण के रूप अर्जुन तथा श्रीकृष्ण से द्वेष करता था। माता मूर्ति के लिये दिये हुए वरदान को पूरा करने के लिये नर-नारायण ने तपस्या की और सहस्त्रकवच को परास्त किया। उसके 999 कवच नष्ट कर दिये थे। दैत्य सहस्त्रकवच के सूर्य के पास पहुंचने पर नर-नारायण भी वहाँ पहुंच गये और उन्होंने सूर्य से कहा कि वह उनको सहस्त्रकवच सौंप दे परन्तु सूर्य ने वैसा नहीं किया। तब नारायण ने कमंडलु में जल लेकर उसको शाप दिया कि वह कर्मफल भोगने के लिये सहस्त्रकवच के साथ भागीदार बनेगा। त्रेतायुग के बाद द्वापर युग में जब कुन्ती ने वरदान का परीक्षण करने के लिये सूर्य का आवाहन किया तब कर्ण का जन्म हुआ। यह बात प्रायः ज्ञात नहीं होती कि कर्ण में सूर्य के साथ सहस्त्रकवच दैत्य भी था। जैसे नर तथा नारायण के दो शरीरों में एक आत्मा था। उसी प्रकार कर्ण के एक शरीर में आत्माओं की संख्या दो थी। महाभारत के युद्ध में नर-अवतार अर्जुन के द्वारा सहस्त्रकवच का वध हुआ। परम तत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये इस कथा को देने का प्रयोजन है। सहस्त्रकवच की हजार कवच प्राप्त करने की लालसा शरीर की ओर घोर आसक्ति का संकेत करती

है। सहस्त्रकवच के पास सहस्त्र कवच होने पर भी वह अमर नहीं हुआ। इन्द्र के स्वर्ग के सुखों के प्रति तथा स्वर्ग के आधिपत्य के प्रति इतना आसक्त होना यह सन्देश देता है कि अनित्य पदार्थों से प्राप्त होने वाले सुख के प्रति आसक्त होने की अपेक्षा हमें नित्य सुख की प्राप्ति की ओर ध्यान देना चाहिये और वह नित्य सुख प्रत्यगात्मा का स्वरूप है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि व्यक्ति को देह आदि बाह्य वस्तुओं की ओर नहीं जाना चाहिये प्रत्युत आन्तरिक तत्त्व की ओर ध्यान देना चाहिये क्योंकि हमारे हृदयाकाश में वर्तमान आत्मतत्त्व नित्य है और उसके ज्ञान से ही अमरता तथा नित्य आनन्द की प्राप्ति होती है।

जित्वा रिपुं सह बलैरतिथिं चकार
चात्मस्वरूपममलं परिभाव्य भूयः।
अन्यत्प्रभावमतुलं सहसा विलोक्य
स्वर्गं गतः स्मर इतीव सदा स्मरामि।।11।।

अन्वय तथा अर्थ — बलैः = सेना के साथ, रिपुम् = शत्रु को, जित्वा = जीतकर, अतिथिम् = मेहमान बना लिया, च = और, भूयः = फिर, अमलम् = निर्मल, आत्मस्वरूपम् = आत्मस्वरूप में, परिभाव्य = अवस्थित हो गये। सहसा = अचानक, अतुलम् = अतुलनीय, (अन्यत्प्रभावम्) अन्यत् = दूसरे, प्रभावम् = (विशिष्ट) प्रभाव को, विलोक्य = देखकर, स्मरः = कामदेव, स्वर्गम् = स्वर्ग को, गतः = चला गया। इति = इस प्रकार (की घटना का), इव = मानो, सदा = हमेशा, स्मरामि = मैं स्मरण करता रहता हूँ।

अनु० :- भगवान् नारायण ने सेनासहित शत्रु (कामदेव) के ऊपर विजय प्राप्त करके उसे अपना अतिथि बना लिया और फिर वे अपने निर्मल आत्मस्वरूप में अवस्थित हो गये। कामदेव ने अचानक उनके इस अन्य अतुलनीय प्रभाव को देखा और वह स्वर्ग चला गया। (बाबा श्रीमस्तरामजी कहते हैं कि) इस घटना का मानो मैं सदा ही स्मरण करता रहता हूँ।

व्या० :- जब भगवान् नारायण वैराग्यपूर्ण ढँग से कठोर तपस्या कर रहे थे तब इन्द्र को ऐसा लगा कि इन्द्र के पद को प्राप्त करने के लिये वे इतनी कठोर तपस्या कर रहे हैं। नर-नारायण के तप को भंग करने के लिये इन्द्र ने अपनी ओर से भरसक प्रयास किया लेकिन इन्द्र अपने प्रयासों में सफल नहीं हो पाया। तब उसने अप्सराओं के साथ कामदेव को उनकी तपस्या को भंग करने के लिये भेजा। परन्तु कामदेव के द्वारा अथक परिश्रम करने पर भी वह सफलता प्राप्त नहीं कर सका। भगवान् अपनी तपस्या में संलग्न रहे। उनके ऊपर तनिक भी

प्रभाव नहीं हुआ बल्कि भगवान् नारायण ने अपनी जंघा से उर्वशी को उत्पन्न करके उसे इन्द्र को उपहार के रूप में दे दिया। भगवान् के इस अलौकिक प्रभाव को देखकर तथा उनकी महिमा को जानकर इन्द्र ने उनसे क्षमा मांगी और अपने ऊपर कृपा करने के लिये प्रार्थना की। इस कथा से यह शिक्षा मिलती है कि अनित्य सुख, ऐश्वर्य आदि से विरक्त होकर भगवान् के प्रति प्रेम को जागृत करना चाहिये। ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये व्यक्ति काम आदि के प्रति सजग रहकर उनसे विरक्त होने का अभ्यास करे। भगवान् ने कामदेव आदि के प्रति जो औदासीन्य प्रदर्शित किया उसको हमेशा याद रखना चाहिये ताकि हम अपने इस आन्तरिक शत्रु पर काबू तथा मन में इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिये सदैव भगवान् का स्मरण करते हुए प्रयत्न करते रहें।

संन्यासमूलमथ वैष्णवभक्तितत्त्वं
संव्यज्यतेऽत्र युगपत्त्वयि वेदवेद्ये।
त्वं निर्गुणश्च सगुणः सदयः सदैव
नारायणो नरसखः शरणं ममास्तु ।।12।।

अन्वय तथा अर्थ — संन्यासमूलम् = संन्यास का मूल, अथ = और, वैष्णवभक्तितत्त्वम् = वैष्णव भक्ति का सार अर्थात् परमप्रेम का सार, अत्र = इस क्षेत्र में, वेदवेद्ये = वेदों के द्वारा जानने योग्य, त्वयि = आपमें, युगपत् = एकसंग, संव्यज्यते = सम्यक् रूप से अभिव्यक्त होते हैं। च = और, त्वम् = आप, निर्गुणः = निर्गुण (उपाधिरहित शुद्ध स्वरूप वाले) हैं, सगुणः = साकार (उपाधिसहित), सदयः = कृपालु, सदैव = हमेशा ही, (वह) नरसखः = नर है सखा जिनका, नारायणः = भगवान् नारायण, मम = मुझे, शरणम् = शरण (देने वाले), अस्तु = बनें।

अनु० :- संन्यास का मूल (वैराग्य) तथा वैष्णव भक्तितत्त्व (परमात्मा से परमप्रेमरूप) वेदों के द्वारा जानने योग्य आपमें यहाँ सम्यक् रूप से एकसंग (युगपत्) प्रकट होते हैं और सदैव आप निर्गुण, सगुण तथा कृपालु हैं। (ऐसे) नरसखा नारायण मुझे अपनी शरण में लेने की कृपा करें।

व्या० :- सकल बाह्य पदार्थों, कामनाओं तथा मानसिक संकल्पों को त्याग कर यहाँ बदरीवन में आप तप कर रहे हैं। इससे आपमें संन्यास का मूल वैराग्य स्पष्ट दिखाई देता है। इससे यह उपदेश मिलता है कि संन्यासियों को इस प्रकार रहना चाहिये। आपने सगुण रूप धारण किया है। इससे वैष्णव भक्तितत्त्व स्पष्टरूप से

प्रदर्शित होता है। आपके त्यागने पर भी लक्ष्मी ने बदरीवृक्ष के रूप में आपकी सेवा की और आपके ऊपर आने वाली प्रत्येक विपत्ति में आपके पास बनी रहीं। इससे भी भक्तितत्त्व और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

आप वेदों के द्वारा ज्ञान का विषय बनते हैं। उपासनाकाण्ड से सगुण रूप जाना जाता है और ज्ञानकाण्ड से आपके निर्गुण स्वरूप का बोध होता है। गुरुमुख से परमतत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करके तथा गुरुमुख से ही महावाक्य आदि का श्रवण करके, श्रुति के अनुकूल युक्तियों से सुने हुए के विश्लेषण के द्वारा तात्पर्य का निर्धारण करके जब परमतत्त्व में पक्का विश्वास हो जाता है तब परमतत्त्व को विषय बना कर सत्कारपूर्वक लगातार परमतत्त्व के चिन्तन का मनोयोग से अभ्यास करके निर्विकल्प समाधि होती है। इस समाधि में निर्गुण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। परन्तु भक्तों की अपेक्षा से आप सगुण रूप धारण करके भक्तों की इच्छाओं की पूर्ति करके उन्हें अपने चरणों में स्थान देते हैं।

शरण के भी दो रूप होते हैं। सकल संकल्पों को छोड़कर मन को पूरी तरह शान्त कर लेना निर्गुण की शरण में जाना होता है। परम प्रेम से भगवान् पर सम्पूर्ण रूप से निर्भर रहना सगुण की शरण में जाना होता है। सच्चिदानन्द भगवान् ही एकमात्र सत्य है - ऐसा अटूट विश्वास हो जाना ही भगवान् की शरण को प्राप्त करना होता है।

मनुस्मृति में 'नारायण' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है —

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।1.10।।

'नारा' शब्द का अर्थ जल है क्योंकि वे नररूप परमात्मा की सन्तान हैं। अपत्य अर्थ में 'नर' शब्द से अण् प्रत्यय लगकर 'नार' शब्द बनता है और इसका बहुवचन 'नाराः' होता है। इसीलिये जल को 'नरसूनु' (नर का पुत्र) कहा है। परमात्मा ब्रह्मरूप में जल (आपः) में अवस्थित रहते हैं। जल में अवस्थित होने के कारण जल उनका अयन अर्थात् आश्रय है। इसीलिये उन्हें नारायण कहा जाता है। (आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रय इत्यसौ नारायण इत्यागमेष्वाम्नातः। उपर्युक्त श्लोक पर कुल्लूकभट्टद्वारा रचित मन्वर्थमुक्तावली टीका)। जब 'नार' का अर्थ 'नर का पुत्र' लिया जाता है तब इस प्रकार समझा जा सकता है कि जो सब मनुष्यों के हृदय में साक्षी के रूप में रहते हैं वे नारायण हैं। 'नार' का अर्थ जीव लिये जाने पर जीव का अधिष्ठान होने के कारण परमात्मा को ही 'नारायण' कहा जाता है।

ॐ श्रीगणेशाय नमः

अथ विरक्तगीतम्

आदौ वसन्तात् शीतान्तकाले
गावोऽपि यस्मिन् यान्ति प्रकम्पम्।
अश्वत्थमूले रिक्तो विरक्तः
जङ्घां हनुं च संयुज्य सम्यक्।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — वसन्तात् = वसन्त ऋतु के, आदौ = प्रारम्भ से, शीतान्तकाले = शीत ऋतु के अन्त तक के समय में, यस्मिन् = जिसमें, गावः = गायें, प्रकम्पम् = कम्पन को, अपि = भी, प्रयान्ति = प्राप्त करती हैं। रिक्तः = खाली, विरक्तः = वैराग्यसम्पन्न, अश्वत्थमूले = अश्वत्थ वृक्ष के मूल में, जङ्घाम् = जांघ (घुटने) को, हनुम् = ठोड़ी को, सम्यक् = अच्छी तरह, संयुज्य = मिलाकर।

अनुवाद :- वसन्त के प्रारम्भ से लेकर शीत ऋतु के अन्त तक के समय में गायें भी अच्छे कम्पन का अनुभव करती हैं। जिसके पास कुछ भी नहीं था तथा जो सांसारिक पदार्थों से अत्यन्त विरक्त था ऐसा एक व्यक्ति अश्वत्थ वृक्ष के मूल में ठोड़ी तथा जङ्घा को अच्छी तरह मिलाकर (बैठा था)।

सम्पूर्णरात्रौ संचिन्त्य किंचित्
गर्भस्थबालो यद्वद्धि तद्वत्।
प्रातःप्रकाशं प्राचीं प्रतीक्ष्य
गीतं समागात् स्वस्थस्तदित्थम्।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — यद्वत् = जैसे, गर्भस्थबालः = गर्भस्थ बालक, तद्वत् = वैसे, हि = ही, किंचित् = कुछ, सम्पूर्णरात्रौ = सारी रात, संचिन्त्य = चिन्तन करके, प्राचीम् = पूर्व दिशा की, प्रातःप्रकाशम् = प्रातःकालीन प्रकाश की, प्रतीक्ष्य = प्रतीक्षा की, गीतम् = गीत (परमतत्त्व में स्थिति), समागात् = (आ गई), तदित्थम् = इस प्रकार से (उसके फलस्वरूप), स्वस्थः = अपने स्वरूप में स्थित हो गया।

अनु० :- गर्भस्थ बालक के समान सारी रात बैठे हुए कुछ चिन्तन में व्यस्त रहकर पूर्वदिशा में प्रातःकाल के प्रकाश की प्रतीक्षा करता रहा। मधुर गीत के अभिव्यक्त होने पर (परमतत्त्व में स्थित होने पर) वह इस प्रकार स्वस्थ हो गया।

भास्वान् प्रभूतः शीतं समाप्तम्।
शीतं समाप्तं गीतं समाप्तम् ।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — भास्वान् = प्रकाशमान, प्रभूतः = प्रकट हो गया, शीतम् = शीत ऋतु, समाप्तम् = समाप्त हो गई, गीतम् = गीत (भी), समाप्तम् = समाप्त हो गया।

अनु० :- प्रकाशबाहुल्य से युक्त सूर्य प्रकट हो गया और शीत समाप्त हो गया। शीत समाप्त होने पर गीत भी समाप्त हो गया।

।। इति विरक्तगीतम्।।

व्याख्या :- विरक्तगीत में उल्लिखित वसन्त ऋतु का आरम्भ विद्या के उदय का प्रतीक है तथा शीत ऋतु की समाप्ति अज्ञान का अन्त सूचित करती है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जिनकी तुलना गायों से की जाती है, ऋतुपरिवर्तन के समय कम्पन का अनुभव करती हैं अर्थात् आध्यात्मिक उपासना के अभ्यास के फलस्वरूप बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के शक्तिहीन हो जाने पर वे सूक्ष्मता को प्राप्त करके अपने स्रोत में लीन होने के लिये उद्यत हो जाती हैं। अश्वत्थ का मूल ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करता है। इसके नीचे बैठना ब्रह्म के सतत ध्यान का प्रतीक है। 'रिक्त' शब्द का अर्थ खाली होता है। इससे सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति का अभाव सूचित होता है अथवा इससे यह भी संकेत मिलता है कि चिन्तन के सतत अभ्यास के पश्चात् चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो गया है। 'विरक्त' शब्द का अर्थ है सांसारिक पदार्थों से सम्बद्ध समस्त आशाओं की समाप्ति। घुटने तथा ठोड़ी का मिलना जन्म लेने के लिये तत्पर गर्भस्थ शिशु का प्रतीक है जो एक नए भाव के उदय होने की सूचना देता है। समस्त रात्रि में चिन्तन की प्रक्रिया परमतत्त्व के सतत चिन्तन को सूचित करती है अर्थात् इससे सत्कारपूर्वक किये जाने वाले निदिध्यासन का ज्ञान होता है जो सम्यक् रूप से सम्पादित श्रवण तथा मनन के अनन्तर घटित होता है। प्रतीक्ष्य तथा संचिन्त्य में पूर्वकालिक ल्यप्-प्रत्यय वास्तव में अज्ञाननिवृत्ति तथा ब्रह्माविर्भाव के मध्य किसी प्रकार के अन्तराल को सूचित नहीं करता। गीत का उदय यह बताता है कि वे परमतत्त्व में स्थित हो गये। अज्ञान की रात्रि बीत गई तथा ज्ञान का प्रतीक प्रकाशमान सूर्य उदित हो गया। अज्ञानरूपी शीत ऋतु समाप्त हो गई और सांसारिक प्रतीतियों में विद्यमान राग भी अवरुद्ध हो गया अर्थात् संसार में आसक्ति भी सर्वथा समाप्त हो गई। इस प्रकार निर्विकल्प समाधि लग जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर साधक सच्चिदानन्द स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

ॐ श्रीगणेशाय नमः

अथ हिमाचलचित्रेषु गङ्गावर्णनम्

क्वचित् काचित् कन्या पतति पितुरङ्कादिव पुरो
ब्रुवन्ती वा बालोचितवचनमेवं कलकलः।
नदीभिः खेलन्ती मिलति किल कण्ठे च सखिभिः
चलन्ती चापल्याच् चरति बहु वात्सल्यचरितम् ।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — क्वचित् = कहीं, काचित् = कोई, कन्या = कन्या, इव = मानो, पितुः = पिता की, अङ्कात् = गोदी से, पुरः = सामने, पतति = गिरती है। एवम् = इस प्रकार, कलकलः = कलकलध्वनि (करती है), वा = जैसे, बालोचितवचनम् = बालकों के स्वभाव के अनुकूल बोली, ब्रुवन्ती = बोलती हुई। नदीभिः = नदियों के साथ, खेलन्ती = खेलती हुई, सखिभिः = सखियों के साथ, च = और, किल = निश्चित, कण्ठे = गले से, मिलति = मिलती है। चापल्यात् = चंचलता के कारण, चलन्ती = चलती हुई, बहु = बहुत से, वात्सल्यचरितम् = स्नेहपूर्ण आचरण, चरति = करती है।

अनुवाद :- कहीं (हिमालय पर्वत पर गङ्गा ऐसी बह रही है कि) मानो कोई कन्या पिता की गोद् से सामने की ओर उतर रही हो, और कहीं इस प्रकार कलकल ध्वनि करती है कि मानो बालसुलभ बातें कर रही हो। नदियों से खेलती हुई सखियों से निश्चित रूप से गले मिलती है। चंचलता से चलती हुई अनेक प्रकार के स्नेहपूर्ण आचरण करती है।

क्वचित् काचित् कान्ता स्वजनविरहाद् दुःखिततरा
रुदन्ती हाहेति श्वसुरसदनं गच्छति यथा।
हृदोद्रेकाद्द्रेः स्रवति ननु स्रोतो नयनयोः
सुतास्नेहाच्चापि प्रतिध्वनिपरैषा शिखरिणी।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — काचित् = कोई, कान्ता = सुन्दर स्त्री, क्वचित् = कहीं, स्वजनविरहात् = अपने सम्बन्धियों के विरह के कारण, दुःखिततरा = अत्यन्त

दुःखी, हाहा = हा हा, इति = इस प्रकार, यथा = (मानो) जैसे, श्वसुरसदनम् = ससुर के घर को, गच्छति = जाती है। ह्रदोद्रेकात् = जलाशय में जल की वृद्धि के कारण, स्रोतः = धारा, नयनयोः = आँखों की, स्रवति = बहती है, ननु = सचमुच। च = और, सुतास्नेहात् = बेटी के स्नेह के कारण, एषा = यह, शिखरिणी = पर्वतों की श्रृंखला, प्रतिध्वनिपरा = प्रतिध्वनि से युक्ता, (प्रतीयते = प्रतीत होती है)।

अनु० :- कहीं गंगा ऐसी लगती है कि कोई कमनीय युवती अपने सगे सम्बन्धियों के विरह के कारण अत्यन्त दुःखी, हा हा करके (माता पिता आदि के नाम को पुकारती हुई) ससुराल (समुद्र) की ओर जा रही हो। जलाशय में जलवृद्धि के कारण पर्वत से जलधारा ऐसे बहती है कि मानो (पिता के) नेत्रों से अश्रुधारा बह रही हो। बेटी के प्रेम के कारण गंगा के रुदन की गूंज (माता) शिखरिणी (पर्वतश्रृंखला) में सुनाई दे रही है (मानो वह पर्वतश्रृंखला बेटी के दुःख में वैसे ही रुदन कर रही हो)।

क्वचित् काचिन् माता व्रजति किमु वात्सल्यभरिता
पयःपूरं[1] प्रेत्याप्रतिहतगतिः प्रीतिप्रतिमा।
समावर्तोद्भावान् परिवहति वेगाद् बलयती
ललन्ती गायन्ती खलु लहरिभिर्लालयति माम्।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — क्वचित् = कहीं, प्रीतिप्रतिमा = प्रेम की मूर्ति, काचित् = कोई, माता = माँ, किमु = मानो, वात्सल्यभरिता = स्नेह से पूर्ण (होकर), पयःपूरम् = दूध की अधिकता, प्रेत्य = प्राप्त करके, अप्रतिहतगतिः = न रुकने वाली गति है जिसकी, व्रजति = (ऐसे) बहती है। समावर्तोद्भावान् = उद्भूत भँवरों को, परिवहति = चारों ओर घुमाती हुई, वेगात् = वेग के कारण, बलयती = बलशाली होती हुई, ललन्ती = खेलती हुई, गायन्ती = गाती हुई, लहरिभिः = लहरों से, माम् = मुझको, खलु = निश्चित ही, लालयति = लाड लड़ाती है।

अनु० :- गङ्गा कहीं ऐसे बहती है कि मानो कोई प्रेम की मूर्ति माता स्नेह से पूर्ण होकर दूध की अधिकता के कारण न रुकने वाली गति वाली हो जाती है। ठीक उसी तरह (ऋषिकेश के पास) गङ्गा वात्सल्य से भरी हुई जल की बाढ़ को लेकर किसी भी प्रकार न रुकते हुए प्रेम की प्रतिमा जैसी चली जा रही है। उद्भूत भँवरों को लेकर घूमती हुई और वेग से बहती हुई अपनी लहरों से मानो मुझको लाड लड़ा रही है।

1. यहाँ पयःपूरम् का अर्थ दूध तथा पानी की अधिकता - दोनों हैं।

महो नीलं नीलं सलिलमु सलीलं सुललितम्
सुधाधाराधारा मुनिजनपराराधनकला।
यथा विद्युल्लेखा निमिषमनुवेगश्च मनसः
द्रवीभूतं ब्रह्म द्रवति च द्रुतं तद्वनमिति ।।4।।

अन्वय तथा अर्थ — महः = पूजनीय अथवा अत्यधिक, सलिलम् = गङ्गा का जल, नीलम् = नीलमणि जैसा, नीलम् = नील वर्ण वाला, सुललितम् = अत्यन्त सुन्दर, सलीलम् = क्रीड़ा करता हुआ (है) उ = वाक्यपूरक। सुधाधाराधारा = अमृतधारा का आधार, मुनिजनपराराधनकला = मुनिजनों के लिये परब्रह्म की उपासना की कला (है)। यथा = जैसे, विद्युल्लेखा = बिजली की रेखा, मनसः = मन का, निमिषमनुवेगः = प्रतिक्षण परिवर्तनशील चिन्तन का वेग, द्रवीभूतम् = द्रवितरूप में, ब्रह्म = ब्रह्म, द्रुतम् = तीव्र, द्रवति = तीव्र गति से बह रही है, तद्वनम् = वह ब्रह्म (वनरूप से) भजनीय है। इति = इस प्रकार।

अनु० :- अत्यधिक अथवा पूजनीय नीलमणि के समान नील वर्ण वाला क्रीड़ा करता हुआ गङ्गाजल अत्यन्त सुन्दर है। गङ्गा अमृत की धारा का आधार है। मुनिजनों के लिये परब्रह्म की उपासना की कुशलता है अथवा मुनिजनों के लिए श्रेष्ठ आराधनरूपी कला है। जैसे विद्युत् अर्थात् दामिनी चंचल है तथा जैसे मन के चिन्तन का वेग प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है। उसी प्रकार क्षण-क्षण में परिवर्तनशील तथा सबके द्वारा भजनीय गङ्गा भी द्रवीभूत ब्रह्म के रूप में तीव्र गति से बह रही है।

प्रतिष्ठा वै विष्णोर्भवति पदयोस्तेन पदयोः
प्रतिष्ठा वै शम्भोर्भवति शिरसीवेति शिरसि।
प्रतिष्ठाजस्य स्यात् स्वगतकलशे वेति कलशे
परिव्याप्ता शक्तिश्चितिरिति तु गङ्गा विजयते।।5।।

अन्वय तथा अर्थ — विष्णोः = विष्णु की, प्रतिष्ठा = महत्ता, वै = वास्तव में, पदयोः = चरणों में, भवति = है, तेन = इस कारण से, पदयोः = चरणों में (गङ्गाजी) (हैं)। शम्भोः = शम्भु की, प्रतिष्ठा = महत्ता, शिरसि = सिर में (सहस्रार में), वै = वाक्यपूरक, भवति = है, इति = इसलिये, शिरसि = सिर में, इव = ही, (गङ्गाजी) (हैं)। अजस्य = ब्रह्मा जी की, प्रतिष्ठा = महत्ता, स्वगत = अपने,

कलशे = कमण्डलु में, इति = इसलिये, कलशे = कमण्डलु में, वा = ही, (गङ्गाजी हैं)। इति = इस प्रकार, गङ्गा = गङ्गाजी, परिव्याप्ता = सर्वव्यापिनी, चितिः = चैतन्य, शक्तिः = शक्ति, (है), (ऐसी), (गङ्गाजी), विजयते = जय प्राप्त करती है।

अनु० :- विष्णु जी की प्रतिष्ठा चरणों में है। इसी कारण गङ्गाजी भी विष्णुजी के चरणों में हैं। शिव की प्रतिष्ठा उनके सिर अर्थात् सहस्रार में है। इसलिये शिवजी की जटाओं में गङ्गाजी हैं। ब्रह्माजी की प्रतिष्ठा उनके अपने कमण्डलु में है। अतः गङ्गाजी उनके कमण्डलु में हैं। इस प्रकार गङ्गाजी सर्वव्यापिनी चैतन्य शक्ति हैं। अतः गङ्गाजी की तो सर्वत्र जय है।

विश्लेषण : बाबाश्री ने हिमालय में समय व्यतीत करते हुए वहाँ के प्राकृतिक परिवेश को बहुत ही पैनी दृष्टि से देखा था। यह तथ्य उनके गङ्गाजी के शब्दों के द्वारा खींचे गये चित्रों में स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। प्रकृति के निकट रह कर प्रकृति के परिवेश के साथ तादात्म्य सा स्थापित कर लेना तभी संभव है जब व्यक्ति ज्ञानेन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति पर काबू पा कर प्राकृतिक सौन्दर्य का आकलन करता है तब उसके मन में कविता का प्रादुर्भाव होता है। बाबाजी की सूक्ष्म दृष्टि का अनुमान बाबाश्री के द्वारा रचित गङ्गाजी के वर्णन से ही लग जाता है। हिमालय में कई स्थल ऐसे हैं जहाँ गङ्गाजी जलप्रपात के समान गिरती है जिसकी तुलना बाबाजी ने पिता की गोदी से उतरती हुई कन्या से की है। गङ्गाजी की कलकल ध्वनि को अबोध बालक की तोतली बातों के सदृश बताया है। कहीं-कहीं पर गङ्गाजी की ध्वनि ऐसी होती है जो हाहाकार करते हुए रुदन की तरह लगती है जैसे कोई नवविवाहिता युवती अपने ससुराल जा रही हो। पिता की आँखों से बहने वाले आँसुओं की तुलना गङ्गाजी के उस प्रवाह से की है जब गङ्गाजी पर्वत पर कहीं एकत्रित हुए जल से निकलती हुई दिखाई देती हैं। बेटी की बिदाई के कारण विरहातुर माता के रुदन को गङ्गाजी की हाहाकार ध्वनि के कारण उत्पन्न प्रतिध्वनि कहा है। इस वर्णन से नवविवाहिता कन्या की विदाई का काव्यात्मक चित्रण कितना सजीव लगता है- यह तो डूब कर पढ़ने से ही अनुभूति का विषय बन सकता है। स्वयं बाबाजी ऋषिकेश में रहते हुए दोनों समय गङ्गाजी में स्नान करते थे और आश्रम के ठीक सामने गङ्गाजी में भँवर भी पड़ते हैं। गङ्गाजी की लहरों के लाड करने की बात सर्वथा सत्य है। गङ्गाजी के धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व का बोध कराने में बाबाजी ने पूरी तरह ध्यान दिया है। केनोपनिषद् में 'तद्वनम्' के रूप में वर्णित ब्रह्म के रूप में गङ्गाजी को चित्रित किया है अर्थात् जैसे ब्रह्म भजनीय है उसी प्रकार गङ्गाजी का भी भजन करना चाहिये। अन्त में विष्णु जी के चरणों मे, शिव के सिर में तथा ब्रह्माजी के कमण्डलु में गङ्गाजी की प्रतिष्ठा का चित्रण भी पौराणिक संदर्भ का परिचायक है।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

परमपुरुष की अद्भुत प्रार्थना

हे अनन्त नित्यमुक्त
हे स्वरूपसुन्दर
प्रियवर परावर, हे स्वरूपसुन्दर
परमपुरुष अप्रमेय
हेतुहेतु हे
हे अनन्य अधिपते
नमन हे नमन हे
हे अनन्य अधिपते !

अनुवाद :- हे अनश्वर निस्सीम परमात्मन् ! आप नित्य ही मुक्त हैं। (आप कभी बन्धन में पड़े ही नहीं क्योंकि आप माया के स्वामी हैं।) आप स्वरूपतः ही सुन्दर है (क्योंकि सौन्दर्य का निरतिशय उत्कर्ष भी आप में ही है)। प्रेमास्पदों में आप श्रेष्ठ हैं (क्योंकि आप सबके हृदयाकाश में विद्यमान हैं और इसीलिये सब अपने आप से प्रेम करते हैं अर्थात् आप सबसे अधिक प्रिय हैं)। आप पर तथा अवर दोनों रूपों में हैं (पर का अभिप्रेत अर्थ है निर्गुण और अवर का अर्थ सगुण है। परमात्मा निर्गुण होते हुए भी भक्त की इच्छा को पूरा करने के लिये सगुण रूप भी धारण कर लेते हैं। इसी आशय को लेकर बाबाजी ने आत्मचिन्तनम् , 14 में यह कहा है - विशिष्ट इष्टतो मान्यो भक्तापेक्षितविग्रहः)। आपका स्वरूप ललित है। हे परमचैतन्य ! यद्यपि आप सबके अन्दर रहते हैं फिर भी आप प्रमारूप वृत्तिज्ञान का विषय नहीं बनते हैं (आप वाणी का विषय भी नहीं बनते हैं। इसीलिये आपको अवाङ्मनसगोचर रूप में जाना जाता है)। आप कारण के भी कारण हैं अर्थात् प्रकृति आपके द्वारा प्रेरित किये जाने पर ही सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ करती है। आप अन्य नहीं हैं अर्थात् आप स्वात्मस्वरूप ही हैं ('तत्त्वमसि' उपदेशवाक्य तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' अनुभव वाक्य - इन दोनों महावाक्यों के अभिप्रेत अर्थ आप ही हैं। यहाँ लक्षणावृत्ति से तत् तथा त्वम् और अहम् और ब्रह्म में अभेद की प्रतिष्ठा हो जाती है)। हे सबके स्वामी! आपको पुनः-पुनः नमन है। हे स्वात्मरूप ! आप सबके स्वामी हैं। (आपको बार-बार नमन!)

श्रीहरि-मङ्गलगीतम्[1]

श्रितकमलाकुचमण्डल, धृतकुण्डल ए।
कलितललितवनमाल, जय जय देव हरे !।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — श्रितकमलाकुचमण्डल = भगवान् लक्ष्मीजी के वक्षस्थल (कुचमण्डल) का आश्रय लिये हुए हैं, धृतकुण्डल = कानों में कुण्डल पहने हुए हैं, ए = यह स्वर राग में आलाप के लिये है, कलितललितवनमाल[2] = गले में घुटनों तक की सब प्रकार के पुष्प की माला पहने हुए हैं, हरे = हे भक्तों के पाप तथा कष्ट हरने वाले, जय जय देव = हे देव ! आपकी जय हो, जय हो।

अनुवाद :- हे देव ! आप लक्ष्मीजी के स्तनमण्डल का आश्रय लिये हुए हैं तथा आपने कानों में कुण्डल पहने हुए हैं। घुटनों तक लटकी हुई सर्वविध पुष्पों की माला से आप सुशोभित हैं। हे देव ! हरि आपकी जय हो, जय हो।।1।।

व्याख्या :- लक्ष्मीजी के सामीप्य से परम प्रेम के साथ-साथ प्रत्येक प्रकार के विपुल ऐश्वर्य की सत्ता का बोध होता है। कानों में कुण्डल धारण करना सौन्दर्य का प्रतीक है। इससे यह व्यञ्जित होता है कि ईश्वर का सौन्दर्य निरतिशय है। इसी सौन्दर्यातिशय का ज्ञान घुटनों तक लटकी हुई सुन्दर पुष्पों की माला के पहने से भी होता है। भक्तों के पाप हर लेने वाले हे देव! आपकी जय हो, जय हो।।

दिनमणिमण्डलमण्डन, भवखण्डन ए।
मुनिजनमानसहंस, जय जय देव हरे।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — दिनमणिमण्डलमण्डन = हे सूर्यमण्डल के अलंकरण क्योंकि सवितृमण्डल के मध्य में वर्तमान आप साधकों के लिये ध्यान का आलम्बन हो, भवखण्डन = हे संसार का छेदन करने वाले अर्थात् आवागमन के चक्र से मुक्त करने वाले अथवा जन्म से मुक्ति देने वाले हो, मुनिजनमानसहंस = मुनिजनों के मानस के हंस (परब्रह्म के रूप में ध्यान का विषय होने के कारण आप मुनियों के मानस में रहने वाले हंस हो क्योंकि वे सदैव आपका ध्यान करते हैं)। जय जय देव हरे का अर्थ पूर्ववत् है।

अनु० :- आप सूर्यमण्डल के अलंकार हैं (क्योंकि आप सूर्य के मण्डल के मध्य में वर्तमान है) तथा आप संसार का छेदन करने वाले अर्थात् आवागमन

1. यह कवि जयदेव की रचना है। बाबा श्रीमस्तरामजी की अनुमति से प्रातःकाल मङ्गल आरती के रूप में यह श्रीहरि-मङ्गलगीत गाया जाता है। इसलिये इसका यहाँ संनिवेश करके व्याख्या की गई है।
2. आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्वला। मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता।। वाचस्पत्यम्।

के चक्र से मुक्त करने वाले हैं अथवा जन्म का नाश करने वाले हैं। (परब्रह्म के रूप में ध्येय होने के कारण) आप मुनिजनों के मानस के हंस हैं। हे देव ! आपकी जय हो, जय हो।

व्या॰ :- सवितृमण्डल के मध्यवर्ती नारायण[3] को पुराणों में ध्यान का आलम्बन बताया गया है। इसलिये सूर्यमण्डल के बीच में रहते हुए वे सूर्य को अलंकृत करते हैं, उसके आभूषण हैं। भवखण्डन का अर्थ है संसार से मुक्ति दिलाने वाले या पुनः-पुनः जन्म से मुक्त करने वाले परमात्मा हैं। मुनिजनों के द्वारा परब्रह्म के रूप में ध्यान का विषय बनाये जाते हैं। इसीलिये भगवान् को मुनिजनों के मानस का हंस कहा गया है क्योंकि वे इस रूप में सदैव मुनियों के हृदय में विद्यमान रहते हैं।

कालियविषधरगञ्जन, जनरञ्जन ए।

यदुकुलनलिनदिनेश, जय जय देव हरे।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — कालियविषधरगञ्जन = आप कालिय नाग का दमन करने वाले हैं, जनरञ्जन = कालिय नाग के दमन करने के कारण आपने लोगों के मन को प्रसन्न किया था, यदुकुलनलिनदिनेश = यदुवंशरूपी कमल के आप सूर्य (विकास करने वाले) हैं। हे भक्तों के कष्टों को हरने वाले देव आपकी जय हो, आपकी जय हो।

अनु॰ :- हे भगवन् ! आप कालिय नाग का दमन करने वाले हैं। अपने इस कार्य से आपने लोगों के मन को प्रसन्न किया। इस कृत्य से भी आप यदुकुल वंशरूपी कमल का विकास करने वाले सूर्य बने।

व्या॰ :- इस पद्य में कालियनाग के दमन करने के पौराणिक संदर्भ का उल्लेख है। जलह्रद के पानी को विषैला बनाने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने कालिय नाग को जलह्रद से सुरक्षा के साथ निष्कासित किया। भगवान् के इस कृत्य से वहाँ के निवासी प्रसन्न हुए थे। इसीलिये जयदेव भगवान् को जनरञ्जन कह रहे हैं। साथ ही भगवान् की अलौकिक लीलाओं से यदुकुल का यश चारों ओर व्याप्त हुआ था। इसी कारण श्रीकृष्ण यदुकुलरूपी कमल के सूर्य कहे गये हैं।

मधुमुरनरकविनाशन, गरुडासन ए।

सुरकुलकेलिनिदान, जय जय देव हरे।।4।।

3. ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः।। नरसिंहपुराण, 62.17.

अन्वय तथा अर्थ — मधुमुरनरकविनाशन = मधुनामक दैत्य, मुरनामक दैत्य तथा नरकनामक दैत्य का वध करने वाले, गरुडासन = गरुड़ आपका वाहन है, सुरकुलकेलिनिदान = देवताओं की क्रीड़ाओं (प्रसन्नता) के आप कारण हैं (क्योंकि देवताओं को सताने वाले दैत्यों का आपने वध किया है)। हे देव ! आपकी जय हो जय हो।

अनु॰ :- हे गरुड़वाहन भगवान् ! आपने मधु, मुर तथा नरक नाम वाले दैत्यों का वध किया है। देवताओं के कुल में होने वाली क्रीड़ाओं के आप कारण हैं क्योंकि आपने इन दैत्यों का वध किया है जिन्होंने देवताओं के कुल को अत्यन्त सताया है। हे भक्तों के कष्टों का हरण करने वाले भगवन् ! आपकी जय हो, आपकी जय हो।

व्या॰ :- इस श्लोक में मधु, मुर तथा नरक नाम वाले दैत्यों के वध का उल्लेख हुआ है जो और अनेक दैत्यों के वध का भी उपलक्षण है। ये दैत्य देवताओं के संतापक होते हैं। इनके नाश से उनका संताप समाप्त हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप देवताओं में जो प्रसन्नता होती है देवताओं की केलि (क्रीड़ा) उसका संकेत है। निदान का अर्थ आदि कारण होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि दैत्यों का वध हो जाने से देवता प्रसन्न होकर जो क्रीड़ा करते थे उसका कारण भगवान् ही थे।

अमलकमलदललोचन, भवमोचन ए।
त्रिभुवनभवननिधान, जय जय देव हरे।।5।।

अन्वय तथा अर्थ — अमलकमलदललोचन = हे निर्मल कमलपत्र के समान नेत्र वाले भगवन् ! भवमोचन = संसार या जन्म से मुक्ति देने वाले, त्रिभुवनभवननिधान[4] = त्रिलोकीरूप घर है वासस्थान जिनका, हे देव आपकी जय हो।

अनु॰ :- हे भगवन् ! आपके नेत्र सुन्दर कमल के पत्र के समान हैं, आप जन्म से छुटकारा देने वाले हो अथवा संसार (भव) से अर्थात् आवागमन के चक्र से मुक्ति देने वाले हो, हे भगवन् ! सकल त्रिभुवन ही आपके रहने का स्थान है। (पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा - तीनों लोकों के उत्पत्ति के कारण आप हैं)। हे देव ! आपकी जय हो, जय हो।

---

4. त्रिभुवनभवननिदान (पाठान्तर) = त्रिलोकी के उत्पत्ति आदि के कारण।

व्या॰ :- भगवान् के नेत्रों के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। साथ ही यह भी बताया जा रहा है कि भगवान् की सामर्थ्यमयी अनुकम्पा से व्यक्ति जन्म से मुक्त हो सकता है। भव का अर्थ संसार लेने पर इसका अर्थ यह हो सकता है कि भगवान् कृपा करके भक्तों को संसार के आवागमन के चक्र से मुक्त कर सकते हैं। 'त्रिभुवनभवननिधान' में 'निधान' के स्थान पर 'निदान' का पाठ मिलता है। 'निदान' का अर्थ होता है आदिकारण और 'निधान' का एक अर्थ वासस्थान भी होता है। इस तरह दो अर्थ प्राप्त होते हैं।1. त्रिलोकीरूप घर आपका निवासस्थान है अर्थात् आप सर्वत्र हैं। 2. तीनों लोकों की उत्पत्ति के कारण आप ही हैं। हे कष्ट हरने वाले देव ! आपकी जय हो जय हो।

जनकसुताकृतभूषण, जितदूषण ए।
समरशमितदशकण्ठ, जय जय देव हरे।।6।।

अन्वय तथा अर्थ — जनकसुताकृतभूषण = (वनवास के समय) जिन्होंने सीताजी के पत्र, पुष्प आदि से आभूषण बनाये थे, जितदूषण = जिन्होंने खरदूषण को परास्त किया था, समरशमितदशकण्ठ = संग्राम में जिन्होंने रावण का नाश किया था। हे देव ! आपकी जय हो जय हो।

अनु॰ :- हे भगवन् ! वनवास के समय में आपने पुष्प, पत्रों से सीताजी के लिये आभूषण बनाये थे। (उसी समय में आपने) खरदूषण को भी पराजित किया था और रावण के साथ युद्ध करते हुए युद्ध में रावण का वध किया था। हे देव! आपकी जय हो जय हो।

व्या॰ :- त्रेतायुग में जब श्रीराम को वनवास हुआ था तब वन में सीताजी के लिये पुष्प आदि से आभूषण आप स्वयं तैयार करते थे ताकि सीताजी अपने लिये उचित तथा आवश्यक प्रसाधन कर सकें। खरदूषण के ऊपर विजय भी आपने प्राप्त की थी। सीताहरण के पश्चात् रावण के साथ युद्ध हुआ और उसमें भगवान् श्रीराम ने रावण का वध किया था। ऐसे समर्थ भगवान् को कोटिशः प्रणाम। हे देव ! आपकी जय हो जय हो।

अभिनवजलधरसुन्दर, धृतमन्दर ए।
श्रीमुखचन्द्रचकोर, जय जय देव हरे।।7।।

अन्वय तथा अर्थ — अभिनवजलधरसुन्दर = नूतन मेघ के समान सुन्दर (सुन्दर श्याम वर्ण वाले), धृतमन्दर = जिन्होंने (समुद्रमन्थन के समय)

मन्दर पर्वत को धारण किया था, श्रीमुखचन्द्रचकोर = लक्ष्मीजी के मुखरूपी चन्द्रमा के लिये चकोर के समान व्यवहार करने वाले अर्थात् जो सदैव श्रीजी के मुख के दर्शन के अभिलाषी हैं।

अनु० :- आपका सुन्दर श्याम वर्ण नूतन मेघ के सदृश है, समुद्रमन्थन के समय मन्थन के रूप में उपयोग में लाने के लिये मन्दराचल को आपने ही धारण किया था। जैसे चकोर चन्द्रमा के दर्शन की इच्छा रखती है वैसे भगवान् लक्ष्मीजी के चन्द्रमा के समान मुख को देखने के लिये लालायित रहते हैं। हे देव ! आपकी जय हो, जय हो।

व्या० :- कवि जयदेव के द्वारा भगवान् के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का एक और ढंग अपनाया गया है। नये बादल का श्याम वर्ण अत्यन्त मनोहर होता है। वैसे ही मनोहर श्याम वर्ण वाले भगवान् हैं क्योंकि नीलवर्ण सर्वव्यापकता का भी द्योतक होता है। संसार के पदार्थों को लेकर परमात्मा के गुणों की तुलना तारतम्य की दृष्टि से अत्यन्त हीन होती है। परन्तु हम लोगों की समझ के लिये उस विधा का उपयोग किया जाता है ताकि हम अपने अभ्यस्त जीवन में प्राप्त किये गये अनुभव के आधार पर समझ सकें क्योंकि भगवान् के सौन्दर्य का आनुभविक दर्शन तो हमें हुआ ही नहीं है। 'धृतमन्दर' समस्तपद भगवान् के सामर्थ्य को बताता है। समुद्रमन्थन के समय भगवान् ने मन्थानदण्ड के रूप में मन्दर पर्वत को धारण किया था[5]। ऐसे सामर्थ्यवान् भगवान् की सौन्दर्य के प्रति अभिलाषा की अभिव्यक्ति के लिये कवि जयदेव ने 'श्रीमुखचन्द्रचकोर' पद का प्रयोग किया है कि जैसे चकोर को चन्द्रमा अच्छा लगता है मानो वैसे ही भगवान् श्रीजी के चन्द्रवदन को देखते रहने के अभिलाषी हैं।

तव चरणे प्रणता वयमिति भावय ए।
कुरु कुशलं प्रणतेषु, जय जय देव हरे।।8।।

अन्वय तथा अर्थ — वयम् = हम, तव = आपके, चरणे = चरणों में, प्रणताः = नतमस्तक हैं, इति = इस पर, भावय = विचार कीजिए। प्रणतेषु = नतमस्तकों का, कुशलम् = कल्याण, भला, कुरु = कीजिये।

अनु० :- हम आपके चरणों में नतमस्तक हैं। हे प्रभो! इस पर विचार कीजिये तथा आपके चरणों में जो नतमस्तक हैं उनका कल्याण कीजिये। सब पापों का हरण करने वाले हे देव ! आपकी जय हो, जय हो।

---

5. धृतः क्षीराब्धिमन्थनावसरे मन्दरो मन्थानदण्डभूतो येन।

व्या॰ :- अब कवि जयदेव भगवान् को प्रणाम करना चाहते हैं तथा उनसे अनुरोध कर रहे हैं कि वे नतमस्तक भक्तों का कल्याण करें। कवि यहां 'कुशलम्' शब्द से सब प्रकार के विघ्नों से मुक्ति की कामना करते हैं।

[6]श्रीजयदेवकवेरुदितं कुरुते मुदम्।
मञ्जुलमङ्गलगीतं, जय जय देव हरे।।9।।

अन्वय तथा अर्थ — श्रीजयदेवकवेरुदितम् = श्रीजयदेव कवि की यह कविता, मञ्जुलमङ्गलगीतम् = सुन्दर मङ्गल छन्द में रचित गीत है, मुदम् = आनन्द, कुरुते = करती है, देती है। हे भक्तों के कष्टों को हरने वाले देव ! आपकी जय हो, जय हो।

अनु॰ :- श्रीजयदेव कवि की यह कविता जो सुन्दर मङ्गल छन्द में उपनिबद्ध है वह सबके लिये आनन्द देने वाली है। (अर्थात् श्रीहरिमङ्गलगीत सबके लिये आनन्दप्रद हो)।

व्या॰ :- कवि श्रीजयदेव ने 'मङ्गल' शब्द का प्रयोग छन्द के अर्थ में किया है। 'मङ्गल' शब्द जिन अन्य कल्याण आदि अर्थों का भी वाचक है उसकी कामना तथा सब प्रकार के विघ्नों से मुक्ति की प्रार्थना भी पूर्व श्लोक में 'कुशलम्' शब्द से की जा चुकी है।

।।इति श्रीहरिमङ्गलगीतम्।।

6. श्रीजयदेवकवेरिदम् - पाठान्तर। 'इदम्' सर्वनाम से कविता का भी परामर्श हो सकता है।

देसी (ब्राह्मी) गाय का महत्त्व

बाबा श्रीमस्तरामजी के द्वारा 'गोविमर्शनम्' की रचना यह बिल्कुल स्पष्ट करती है कि हम सबको देसी (सास्नावती अर्थात् गलकम्बल वाली) गाय के महत्त्व को समझना चाहिये क्योंकि देसी गाय अनेक प्रकार से मनुष्य के लिये लाभप्रद है। यह गाय परिवार के सदस्य के रूप में ही नहीं प्रत्युत गोमाता के रूप में भी पूजी जाती है। भारतीय इतिहास में गोमाता के महत्त्व के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। महाकवि कालिदास के द्वारा रचित रघुवंश महाकाव्य में सन्तान प्राप्ति के लिये महाराज दिलीप को महर्षि वसिष्ठ ने नन्दिनी गौ की सेवा करने के लिये कहा था क्योंकि उनके द्वारा कामधेनु के प्रति प्रणाम न करने का जो अपराध किया गया था उससे मुक्ति नन्दिनी गौ की सेवा से ही हो सकती थी। महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी गौ कामधेनु की ही पुत्री थी। जब महाराज दिलीप ने सेवा करते हुए नन्दिनी की परीक्षा को उत्तीर्ण कर लिया तब नन्दिनी ने प्रसन्न होकर महाराज दिलीप को पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। कुछ दिनों पश्चात् उनकी पत्नी सुदक्षिणा ने पुत्र को जन्म दिया। यही पुत्र महाराज रघु के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् श्रीकृष्ण के नामों में उनका एक नाम गोपाल भी है जिसका अर्थ है गायों की रक्षा करने वाला। क्षत्रिय वंश के होने पर भी उन्होंने अपना बचपन राजा नन्द के घर पर व्यतीत किया। राजा नंद दुग्धशाला के कृषकों (dairy farmers) के राजा थे। कंस का वध करने के पश्चात् ही उन्होंने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया था। गोसेवक कहला कर उन्होंने गोसेवा को एक उच्च स्तर प्रदान किया। उनके सन्देश के अनुसार गौ को जितनी मानव की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक मानव को गौ की आवश्यकता पड़ती है। गाय का दूध अत्यन्त लाभदायक है। यह एसिडिटी को कम करता है और रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है। मस्तिष्क को कुशाग्र बनाता है। गाय का दूध बहुत सी आयुर्वेदिक औषधियों के बनाने के काम आता है। देसी गाय के दूध में A 2 कैसिइन प्रोटीन पाया जाता है जो मधुमेह में अत्यन्त लाभदायक है। देसी गाय के दूध से दही, छाछ, मक्खन तथा घी प्राप्त होते हैं। इन सबमें औषधीय तथा पोषक तत्त्व पाये जाते हैं। अन्य पशुओं के समान गोमूत्र तथा गाय के गोबर को फेंका नहीं जाता प्रत्युत ये मानव के लिये वरदान हैं। विशेषकर किसानों के लिये ये अनेक कार्यों में प्रयोग में लाये जाते हैं। कृषि के लिये उर्वरक पदार्थ आदि बनाने के काम में आते हैं। कीड़ों आदि को भगाने के लिये रसायनिक पदार्थों के बनाने के काम में लाये जाते हैं। बाह्य आवश्यकताओं के लिये ही नहीं अपितु कैंसर जैसी घातक बीमारियों के लिये भी गोमूत्र अत्यन्त लाभदायक है। अमेरिका, चीन तथा भारत ने गोमूत्र को कैंसर प्रतिरोधक औषधि के रूप में मान्यता दी है। गोबर के महत्त्व के विषय में यह कहा जा सकता है कि इससे भूमि की उर्वरकता में वृद्धि होती है तथा इसके समीप वातावरण स्वास्थ्य के

अनुकूल बन जाता है। गो-विज्ञान संस्थाओं के द्वारा किये गये अनुसंधान में यह ज्ञात हुआ है कि देसी गाय पर आधारित जैविक खेती करने से भूमि की उर्वरक शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। इस प्रकार गौ के सहयोग से रसायनिक खादों तथा कीटनाशकों के प्रयोग के बिना अच्छी खेती किया जाना संभव हो सकता है। गोबर आदि की सहायता से जब उत्पादन होता है तब खाद्य पदार्थों की गुणवत्ता में भी वृद्धि होती है। इससे एक शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण की संभावना भी एक वास्तविक रूप ले सकती है। स्पष्टतः यह उद्देश्य देसी गाय की रक्षा तथा पालन से पूरा किया जा सकता है। इसलिये हमें गोसम्बन्धी पदार्थों पर आधारित कृषि करने पर बल देना चाहिये। एक देसी गाय के एक दिन के गोबर तथा मूत्र से एक एकड़ भूमि में सन्तोषजनक ढँग से प्राकृतिक खेती की जा सकती है। इससे हम विषैले रसानयिक पदार्थों से भी बचे रहेंगे। पृथ्वी के जल-स्तर में भी इससे वृद्धि होती है। वातावरण स्वास्थ्य के अनुकूल हो जाता है।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि देसी गाय के साथ रहने तथा उसके साथ लिपटने से मानसिक सकारात्मकता में निःसन्देह वृद्धि होती है। इससे आक्सीटोसिन हार्मोन (oxytocin hormone) में वृद्धि होती है। इस हार्मोन को (सामाजिक) बोंडिंग अथवा लव हार्मोन भी कहते हैं। यह रिलेशनशिप तथा इमोशनल सम्बन्ध बनाने में अच्छी भूमिका निभाता है, प्रेम का अहसास करवाता है। गाय के अत्यन्त समीप रहने से व्यक्ति प्रकृति के निकट आ जाता है। गाय के शरीर का तापमान तथा उसकी नियन्त्रित नियमित श्वास की प्रक्रिया हमें ऐसा अनुभव कराती है जैसे कि हम अपनी माँ की गोद में हैं। इस प्रकार गौ की समीपता से मानसिक समस्याओं के सुलझाने में एक बहुत बड़ी सहायता मिलती है। गाय के इस गुण के ज्ञात होने के पश्चात् विदेशों में भी ऐसे केन्द्र खुल गये हैं जिनमें गो-स्पर्श से मानसिक चिकित्सा की जाती है। इस दिशा में आई. ए. एस. श्री एस. पी. गुप्ता ने 2021 में कामधेनु गौधाम तथा आरोग्य संस्थान नाम से एक गो-स्पर्श केन्द्र स्थापित किया है। यह बात तो स्पष्ट है कि प्रकृति से दूर रहना ही आज के मानव की मानसिक समस्याओं का कारण है। इससे मानसिक तनाव का जन्म होता है और उस तनाव के कारण अनेक प्रकार की मानसिक विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं। देसी गाय के साथ लिपटने से, उसका आलिंगन करने से निश्चित रूप से व्यक्ति की समस्याओं का समाधान होता है। इसकी सार्थकता को पहचानते हुए विदेशों में ऐसे केन्द्र खोले गये हैं जिनमें गो-स्पर्श से उपचार किया जाता है। जहाँ तक आर्थिक स्थिति का प्रश्न है, हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में आर्थिक स्थिति मुख्य रूप से गौ पर आधृत थी। इसकी प्रासंगिकता के ऊपर इस समय भी विचार किया जाना चाहिये। इस परिप्रेक्ष्य में हमें बाबा श्रीमस्तरामजी के द्वारा रचित 'गोविमर्शनम्' का आदर तथा ध्यानपूर्वक पाठ करना चाहिये —

।।ॐ श्रीगणेशाय नमः।। ।।नमो गोभ्यः।।

अथ गोविमर्शनम्

ब्रह्मर्षिवन्दितां ब्राह्मीं राजर्षिपरिसेविताम्।
देवाश्रयकृतां दिव्यां वेदानुमोदितां नुमः।।1।।

अनुवाद :- ब्रह्मर्षि (वसिष्ठजी) द्वारा पूजित, ब्रह्ममयी, राजर्षि (दिलीप के) द्वारा सेवित, जिसको देवताओं ने अपना आश्रय बनाया, (अतः) दिव्य, (तथा जिसकी दिव्यता तथा ब्रह्मभाव) वेदों के द्वारा समर्थित है, उस गौमाता को हम प्रणाम करते हैं।।1।।

पवित्रपांसुलां पूतां परितः पुण्यदर्शनाम्।
इहामुत्र श्रियं वन्दे मातरं जगतामहम्।।2।।

अनु० :- पवित्र धूलवाली, सब प्रकार से पुण्य दर्शन वाली, इस लोक तथा परलोक की लक्ष्मी तथा (समस्त) जगत् की माता की मैं वन्दना करता हूँ।

अपवादः समानोऽत्र पिबन्त्येव पशोः पयः।
गवां तु तत्र वैशिष्ट्यं येनासां मातृता मता।।3।।

अनु० :- दूध पीने मात्र हेतु से ही (गौ तथा महिषी आदि में मातृत्व प्रसक्त होना) समान रूप से दोषयुक्त है। परन्तु गायों में दूध देने के अतिरिक्त ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके फलस्वरूप मनुष्यों के लिये भी गायों का मातृत्व सुसम्मत बन जाता है।।3।।

ओंकारमथ हुंकारं व्याहरन्ती सुमङ्गला।
गोमाता व्यक्तमाख्याता उमा अम्बा च रम्भणात्।।4।।

अनु० :- ओंकार तथा हुंकार का उच्चारण करने से गाय कल्याणमयी है। रम्भाने में उमा तथा अम्बा (मातृवाचक शब्दों) का स्पष्ट श्रवण होने से उसका मातृत्व स्पष्ट रूप से कह दिया जाता है।।4।।

धर्मधात्री धरारूपा यज्ञयोग्यार्थदायिनी।
गोमाता व्यक्तमाख्याता वत्सला च पयस्विनी।।5।।

अनु० :- पृथ्वीस्वरूपा गाय यज्ञोपयोगी पदार्थों को देने वाली है। अतः सनातन धर्म की धात्री माता है और वात्सल्य तथा दूध देने वाले भावों से भी गाय का मातृत्व स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया गया है।।5।।

बालाय चापि वृद्धाय रोगिणे योगिने हिता।
गोमाता व्यक्तमाख्याता दुर्बलपक्षपोषणात्।।6।।

अनु० :- बालक, वृद्ध, रोगी तथा योगी (सब) का हित करने वाली गाय है। दुर्बल पक्ष का पोषण करने के कारण गाय का मातृत्व सुस्पष्ट है।।6।।

द्वित्राः शावकाः सन्ति स्तनौ द्वावेव केवलम्।
नैव न्याय्यमजादुग्धं भावहिंसा न मातृता।।7।।

अनु० :- बकरी के केवल दो स्तन होते हैं और उसके शावक दो-तीन। इसलिये मनुष्यों के लिये बकरी का दूध लेना न्यायोचित नहीं है क्योंकि उससे भावहिंसा होती है। इसी भावहिंसा के कारण बकरी में मातृत्व नहीं घटता है।।7।।

महिषी भावशून्या हि गावोऽन्या[7] न्यूनलक्षणाः।
सास्नावती स्वतःपूर्णा पञ्चगव्यविधायिनी।।8।।

अनु० :- भैंस में मनुष्यों के लिये वात्सल्यभाव नहीं है और अन्य गायों में (नील गाय या विदेशी गायों में) ब्राह्मी गाय के लक्षण की अव्याप्ति है अर्थात् उनमें यह लक्षण नहीं घटता है। सास्ना (गलकम्बल) से युक्त गाय स्वतःपूर्ण होती है क्योंकि वह दूध, दही, घी और गोबर तथा मूत्ररूप पञ्चगव्य प्रदान करती है। (पञ्चगव्य ब्राह्मी गाय का ही होता है, अन्य कोटि की गायों का नहीं) ।।8।।

भुक्तं पीतं च यत्किञ्चित् पवित्रमुपजायते।
शापवशान्मुखं दुष्टं नैष दोषो वसुन्धराम्[8] ।।9।।

7. तथाऽन्या - पाठान्तर।
8. यह लुप्तक्रियाक कर्म है - 'वसुन्धरां दोषो न गच्छति'।

अनु० :- गाय जो कुछ खाती, पीती है वह पवित्र हो जाता है। शिव के शाप के कारण मुख अपवित्र होने पर भी पृथिवीरूपी गाय को यह दोष नहीं लगता है।।9।।

बन्धनं ग्रन्थवच्चास्या हितायैवोपयुज्यते।

विक्रयो ह्युपलब्ध्यर्थं देवसेवाप्रसादवत्।।10।।

अनु० :- गाय के हित के लिये गाय को बाँध कर रखना वैसे ही उपयुक्त है जैसे ग्रन्थ को वस्त्र में बाँधकर रखना। अभिलाषी को उपलब्ध कराने के लिये जैसे बदरीनाथजी में पिण्ड का प्रसाद, जगन्नाथपुरी में कर्मचारियों को सेवा में मिला हुआ प्रसाद स्वत्व निवारण के लिये है वैसे ही गौ के अभिलाषी को प्राप्त कराने के लिये गाय की बिक्री की जा सकती है।।10।।

समं पयस्तु पुत्रेण विक्रेतव्यं न कर्हिचित्।

कन्यापण्यं गवां पण्यं प्रथाप्यस्ति पुरातनी[9] ।।11।।

अनु० :- ब्राह्मी गाय का दूध पुत्र के समान है। अतः दूध कदापि नहीं बेचना चाहिये। उपर्युक्त अवस्था के अतिरिक्त गाय का बेचना कन्या के बेचने के समान निन्दनीय है।।11।।

यत्र गौस्तत्र गङ्गापि यत्र गौस्तत्र वै रमा।

गोमूत्रे संस्थिता गङ्गा यत्र गोमये कमलालया।।12।।

अनु० :- जहाँ गाय है वहाँ गङ्गाजी भी हैं तथा जहाँ गाय है वहाँ लक्ष्मीजी का भी निवास है क्योंकि गोमूत्र में गङ्गा जी तथा गोबर में लक्ष्मी जी का निवास है।।12।।

ब्रह्माद्या देवताश्चास्याः प्रतिष्ठाने[10] प्रतिष्ठिताः।

पूजिता यत्र गावः स्युः देवतास्तत्र पूजिताः।।13।।

अनु० :- ब्रह्मादि समस्त देवता गाय के शरीर में प्रतिष्ठित हैं। अतः जहाँ गायों की पूजा होती है वहाँ देवता भी स्वयमेव पूजित हो जाते हैं।

यत्र गावः प्रसन्नाः स्युः प्रसन्नास्तत्र सम्पदः।

यत्र गावो विषण्णाः स्युर्विषण्णास्तत्र सम्पदः।।14।।

9. सनातनी - पाठान्तर।
10. प्रत्यङ्गेषु - पाठान्तर।

अनु० :- जहाँ गायें प्रसन्न रहती हैं वहाँ सभी सम्पत्तियां प्रसन्न (अर्थात् बनीं) रहती हैं। जहाँ गायें दुःख पाती हैं वहाँ सारी सम्पदाएँ दुःखी हो जाती हैं अर्थात् वहाँ से चली जाती हैं।।14।।

ओजस्तेजश्च[11] राष्ट्रस्य भावना च पवित्रता।
गौश्चापि भारतं वर्षं देशभक्तैर्विचार्यताम्।।15।।

अनु० :- गाय राष्ट्र का ओज, तेज, भावना तथा पवित्रता है। और गाय भी (चलता फिरता) भारतवर्ष ही है। इस पर देशभक्तों को विचार करना चाहिये ।।15।।

श्रद्धया पूज्यतामद्य श्रद्धापूजास्वरूपिणी।
गोपालानुचरन्तीयं भवतामस्तु कामधुक् ।।16।।

अनु० :- गाय श्रद्धा तथा पूजा की मूर्ति है। (अतः वर्तमान काल में या विशेषतः गोपाष्टमी के दिन) श्रद्धा-भक्ति से गाय की पूजा करनी चाहिये। कृष्ण भगवान् का अनुगमन करने वाली (अथवा कृष्ण भगवान् जिसके पीछे चलते हैं) वह गाय आपके लिये कामधेनु बने (अर्थात् आपकी सकल कामनाओं को पूरा करे)। गाय की श्रद्धा से सेवा करने वाले भक्तों के लिये पूज्य बाबा श्रीमस्तरामजी का यह आशीर्वाद है ।।16।।

।। इति गोविमर्शनम्।।

11. तेजो हि -पाठान्तर।

ॐ श्रीगणेशाय नमः

जय जय सकलसर्गमय अव्यय।
जय जय सर्वाश्रय जय जय।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — जय = आपकी जय हो (सब स्थलों पर यही अर्थ अभिप्रेत है)। सकलसर्गमय = (सम्बोधन एकवचन का रूप है। इसके अनुसार हम भगवान् को सम्बोधित करके उनकी स्तुति कर रहे हैं - हे विश्वरूप !) सारी सृष्टि आपका रूप है, आप सकल सृष्टि में व्याप्त हैं, अव्यय = आप में कोई क्षय नहीं होता अर्थात् आप नित्य हैं, सर्वाश्रय = सबके आधार, इस विराट् विश्व के आधार आप हैं।

अनुवाद :- सकलसृष्टिरूप शरीर का धारण करने वाले हे भगवन् ! आपकी जय हो। हे नित्य ईश्वर! आपकी जय हो। हे सबके आधार! आपकी जय हो, आपकी जय हो।

व्याख्या :- जब हमें इस संसार का रहस्य समझ में नहीं आता है, वर्तमान परिस्थितियों से हम घिरे हुए परेशान रहते हैं और हमें अपनी अनित्यता का भी बोध होता रहता है तब हम भगवान् की स्तुति में ही राहत का अनुभव करते हैं। हम कैसे परमात्मा की प्रार्थना करें? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्तुति का विषय ऐसी विकट स्थिति ही है। यह हमें सिखाती है कि हम ईश्वर के अलौकिक गुणों का गायन करके अपने मन को उनकी ओर लगा दें। यह विराट् विश्व भगवान् का ही रूप है। वे सर्वव्यापक हैं तथा सबके आधार भी वही हैं। किसी भी समस्या के सामने हमें परमात्मा को ही अपना अवलम्बन बनाना चाहिये और उनकी जय जयकार करते रहना चाहिये। इससे निश्चित रूप से हमारी समस्या सुलझेगी और हमारा मन पवित्र होगा।

जय जय जिज्ञास्यदेव ज्ञान एव।
जय जय अमृतपदाभ्युपगम।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — जिज्ञास्यदेव = हे जिज्ञासा का विषय बनने के योग्य देव! ज्ञान = हे ज्ञानस्वरूप, अमृतपदाभ्युपगम[12] = (केवल) आप ही अमृतपद को देने वाले हैं, इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है - (मानों) अमृतपद को स्वीकार करने के कारण अमृतपद भी आप ही हैं।

12. अमृतफलाभ्युपगम - पाठान्तर। इसका अर्थ है - अमृतफल (मोक्ष) देने वाले आप हैं।

अनु० :- हे जिज्ञासा का विषय बनने योग्य तथा ज्ञानस्वरूप ईश्वर आपकी जय हो, जय हो। हे मोक्षरूप अमृतपद देने में समर्थ, आपकी जय हो, जय हो।

व्या०:- 'जिज्ञास्यदेव' पद जो सम्बोधन एकवचन का रूप है प्रथम ब्रह्मसूत्र का स्मरण कराता है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' अद्वैतदर्शनशास्त्र का प्रारम्भिक सूत्र होने के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हम उसी वस्तु को जानने का प्रयत्न करते हैं जिससे हमें लाभ होता है। अपने स्वरूप का बोध तथा इस संसार के रहस्य का ज्ञान होना हमारा सबसे बड़ा लाभ है। ब्रह्म के अनुभव से स्वरूप का परिचय हो जाने के साथ जगत् का सब रहस्य भी समझ में आ जाता है जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है - उसके जानने से सबका ज्ञान हो जाता है तथा मुक्ति की प्राप्ति भी हो जाती है।

जय जय परात्पर जय जय।

जय जय जगतोऽधिगम निगमाधिगम

सक्रिय अक्रिय अन्वय।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — परात्पर = पर से भी पर, प्रकृति से भी परे अर्थात् हे प्रकृति के भी प्रेरक, जगतोऽधिगम = हे जगत् की उत्पत्ति करने वाले, जगत् के ऊपर आधिपत्य रखने वाले, निगमाधिगम = वेदों के उद्गम स्थान, वेदों के प्रकाशक क्योंकि वेदों का अस्तित्व उनके निःश्वास से हुआ था, सक्रिय = सकल क्रियाओं के उद्भावक, अक्रिय = सर्वथा क्रियाहीन अर्थात् निष्कर्म क्योंकि नैष्कर्म्य भी उनका एक स्वरूप माना जाता है, अन्वय = सर्वत्र अनुगत, सब स्थानों पर व्याप्त।

अनु० :- हे प्रकृति के भी स्वामी आपकी जय हो, जय हो। हे जगत् के उद्भावक, जगत् के उत्पत्तिस्थान तथा वेदों के प्रकाशक अर्थात् समस्त आगम-निगम शास्त्रों के कारण, आप समस्त क्रियाओं के करने वाले हैं तथा श्रुति में आपका स्वभाव नैष्कर्म्य (भी) बताया गया है (इसलिये अक्रिय के रूप में आपको सम्बोधित किया जाता है), हे सर्वव्यापक आपकी जय हो, आपकी जय हो।

व्या०:- इस पद्य में परमात्मा के स्वरूप का लगभग अच्छे ढंग से परिचय कराया गया है। परमात्मा पर से भी परे अर्थात् प्रकृति से भी परे अर्थात् प्रकृति के भी अधिपति हैं क्योंकि उनकी ईक्षण क्रिया से प्रकृति सृष्टि करने की प्रक्रिया में व्यापृत होती है। इसलिये परमतत्त्व प्रकृति के भी प्रेरक हैं। जगत् तथा वेदादि शास्त्रों के उद्भव स्थान भी वही हैं। सकल व्यापारों के अनुष्ठाता होने के साथ-साथ नैष्कर्म्य स्वभाव भी वाले हैं। पारमार्थिक रूप से परमात्मा निष्क्रिय हैं परन्तु

माया को लेकर वे क्रियावान् प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उनका स्वरूप सर्वथा मन तथा बुद्धि से परे है।

जय जय सर्वेश्वर जय जय।

जय जय शान्तिस्रोत ओतप्रोत।।4।।

अन्वय तथा अर्थ — सर्वेश्वर = सबके स्वामी, सबके ऊपर शासन करने वाले, शान्तिस्रोत = शान्ति के उत्पत्तिस्थान हैं तथा शान्तिस्वरूप भी हैं, ओतप्रोत = सर्वत्र व्याप्त, रमे हुए (हैं)।

अनु० :- हे सबके स्वामी आपकी जय हो, आपकी जय हो। हे शान्तिस्वरूप तथा शान्तिवहनकर्ता आपकी जय हो, जय हो।

व्या०:- परमात्मा सब पर शासन करने वाले हैं। वे शान्तस्वरूप तथा सतत शान्ति का वहन करने वाले हैं जैसा कि बाबाजी ने आत्मचिन्तनम् में उनको 'सततशान्तिवहोऽवकाशः' कहा है।

जय जय गुहाहित गह्वर।

जय जय सर्वान्तर जय जय।।5।।

अन्वय तथा अर्थ — गुहाहित = हृदयगुफा में रहने वाले, गह्वर = वहीं पर छिपे हुए, सर्वान्तर = सबके अन्दर रहने वाले अर्थात् सबके प्रत्यगात्मा।

अनु० :- हे सबके हृदय आकाश में निवास करने वाले तथा हृदय में ही आच्छादित (गूढ़) स्वरूप वाले आपकी जय हो, जय हो। हे सबके अन्दर रह कर सबका नियमन करने वाले आपकी जय हो, आपकी जय हो।

व्या०:- परमात्मा सबकी हृदयगुफा में निवास करते हैं। सबके हृदय में विद्यमान रहते हुए वे किसी के भी ज्ञान का विषय नहीं बनते हैं। इसलिये शास्त्रों में परमात्मा को आच्छादित या गूढ़ कहा गया है क्योंकि जब तक अन्तःकरण बिल्कुल निर्मल नहीं हो जाता तब तक परमात्मा हमारी अनुभूति का विषय नहीं बनते हैं। अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरण में ही उनका साक्षात्कार होता है।

हरि ॐ तत्सत्

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

अथ गीतामाहात्म्यम्

सांख्ययोगौ स्तनौ यस्याः परो भावः पयस्तथा।
बुद्धियोगश्च वात्सल्यं सा बाला जननी मम।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — यस्याः = जिसके (गीता के) सांख्ययोगौ = ज्ञानमार्ग तथा कर्मयोग, स्तनौ = दो स्तन हैं, परो भावः = उत्कर्षमयी आध्यात्मिक अवस्था, पयः = दूध है। च = और, बुद्धियोगः[13]= बुद्धियोग, वात्सल्यम् = प्रेम, सा = वह, बाला = बालस्वभाव वाली (गीता), मम = मेरी, माता = माँ (है)।

अनु० :- सरल स्वभाव वाली श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दो स्तन हैं। उसी तरह साधना की चरम अवस्था जिसमें आत्मसाक्षात्कार होता है वह साक्षात् ब्रह्मभाव उसका दूध है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के विषय में विवेकपूर्ण बुद्धि की निश्चयात्मिका अवस्था (बुद्धियोग) वात्सल्य है। ऐसी बालस्वभाव वाली गीताजी मेरी माँ हैं।

व्या०:- आध्यात्मिक विचारों तथा गुणों के सम्यक् रूप से स्पष्ट प्रतिपादन के कारण श्रीमद्भगवद्गीता बाबा श्रीमस्तरामजी को इतनी प्रिय थी कि श्रीगीतागुह्यम् की रचना के साथ उन्होंने गीताजी की महत्ता बताने के लिये इन पाँच पद्यों की भी रचना की। गीताजी की तुलना एक सरलस्वभाव वाली किशोरी बालिका से की है। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित ज्ञानयोग तथा कर्मयोग की तुलना उसके स्तनों से की है ताकि इन दोनों योगों का अच्छी तरह अभ्यास करने से प्राप्त ब्रह्माविर्भाव की तुलना उसके दूध से करने में काव्यगत सौन्दर्य अक्षुण्ण बना रहे।

मोहमेति क्वचिन्माता प्राकृती ममतामयी।
सेवितेयं स्वयंसिद्धा गीता मोहमपोहति।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — क्वचित् = कहीं, प्राकृती = शरीरसम्बन्ध के कारण सिद्ध, ममतामयी = ममत्व से ग्रस्त, मोहम् = मोह में, एति = पड़ जाती है। इयम्

13. बुद्धियोगशब्द को बाबाजी इस प्रकार समझाते हैं: बुद्धि की भूमिका ज्ञानयोग तथा भक्तियोग दोनों में रहती है। समत्वभाव से दोनों मार्गों का अनुसरण करना बुद्धियोग कहा जा सकता है क्योंकि निश्चय तथा समत्वभाव से युक्त बुद्धि ही वात्सल्य है जिसके कारण माता के दूध की उपलब्धि होती है। समत्वभाव से कर्मबन्धन नहीं होता और परमतत्त्वविषयक निश्चय से ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। देखें मस्तभाष्य, पृ० 149-70. श्रीशंकराचार्य परमतत्त्व के यथार्थज्ञान को बुद्धि कहते हैं उससे युक्त होना बुद्धियोग है। परमात्मा में समाहितबुद्धि तथा कर्म करते हुए समत्वबुद्धि से युक्त होना भी बुद्धियोग है। देखें भ. गी. 2.49, 10.10 तथा 18.57 पर शांकरभाष्य। निष्कर्षतः परमतत्त्व के यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर कर्म में समत्वबुद्धि रखना तथा परमात्मा में समाहितबुद्धि होना बुद्धियोग है।

= यह, स्वयंसिद्धा = स्वभाव से ही सिद्ध, (यदा=जब) सेविता = गीताजी के अनुसार अनुशासन का पालन किया जाता है (तब) मोहम् = मोह को, अपोहति = (वह) मोह को दूर कर देती है।

अनु० :- कहीं सांसारिक सम्बन्ध से बनी हुई ममतामयी माँ मोहग्रस्त हो जाती है। परन्तु सेवा करने पर यह स्वभावसिद्ध गीता माँ (तो) मोह को दूर कर देती है।

व्या०:- इस पद्य में शरीर के सम्बन्ध से बनी हुई माँ तथा स्वभावसिद्ध माँ गीताजी के मध्य तुलना की गई है। सेवा करते रहने पर भी हमारी अपनी माँ मोहग्रस्त हो जाती है। परन्तु यदि हम गीता माँ की सेवा करते हैं अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता के बताए हुए सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारते हैं तो वह हमें मोह से मुक्त कर देती है। अभिप्राय यह है कि अपनी जननी से भी अधिक हमें श्रीमद्भगवद्गीता के प्रति समर्पित होना चाहिये।

सांख्ययोगौ तटौ यस्याः परो भावः पयस्तथा।
प्रवाहो बुद्धियोगश्च गीतागङ्गां निमज्जये।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — यस्याः = जिसके, सांख्ययोगौ = ज्ञानयोग तथा कर्मयोग, तटौ = (नदी के) किनारे हैं, परः = चरम, भावः = स्थिति, पयः = जल (है)। च = और, बुद्धियोगः = परमतत्त्वविषयक निश्चय तथा समत्वभाव से युक्त बुद्धि, प्रवाहः = जलधारा (है), (इसलिये) गीतागङ्गाम् = गीतारूपी गङ्गाजी (के प्रवाह) में, निमज्जये = मैं गोता लगाता हूँ।

अनु० :- श्रीमद्भगवद्गीतारूपी गंगा के ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दो किनारे हैं। उस में विद्यमान जल चरम भाव (साक्षात्कार की अवस्था) है। समत्वभाव तथा परमतत्त्वविषयक निश्चय से सम्पन्न बुद्धि की स्थिति गीताजीरूपी गंगाजी का प्रवाह है। इसलिये मैं श्रीमद्भगवद्गीतारूपी गङ्गाजी (के प्रवाह) में गोता लगाता हूँ।

व्या०:- इस श्लोक में श्रीमद्भगवद्गीता की तुलना गंगाजी से की गई है। इसका उद्देश्य यह समझाना है कि गीताजी का अध्ययन हमें गम्भीरता से करना चाहिये। बाबाश्री ने इस पद्य में जलप्रवाह की तुलना बुद्धियोग से की है। निमज्जन (डुबकी लगाने) के दृष्टान्त से वे इसे समझाते हैं। नदी में डुबकी लगाने के लिये तट, जल तथा शान्त प्रवाह की आवश्यकता होती हैं तभी हम ढँग से जल में डुबकी लगा सकते हैं। इसी प्रकार निश्चय तथा समत्वभाव से युक्त बुद्धि की सहायता से कर्मयोग या ज्ञानयोग का अभ्यास करते हुए हम परमभाव को प्राप्त करने सफल हो सकते हैं।

मृत्युमेति ध्रुवं कश्चिद् गङ्गाया गहने गतः।
अशक्तस्तरणे सोऽपि गीतायाममृतं लभेत्।।4।।

अन्वय तथा अर्थ — तरणे = तैरने में, अशक्तः = असमर्थ, कश्चित् = कोई, गङ्गायाः = गंगा के गहरे जल में, गतः = गया हुआ, ध्रुवम् = निश्चित रूप से, मृत्युम् = मृत्यु को, एति = प्राप्त हो जाता है, सः = वह, अपि = भी, गीतायाम् = गीता में, अमृतम् = अमरत्व को, लभेत् = प्राप्त कर लेगा।

अनु० :- तैरने में असमर्थ कोई व्यक्ति गंगाजी की गहराई में चला गया है तो निश्चित रूप से वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। (लेकिन) वह (तैरने में असमर्थ व्यक्ति) भी (यदि) गीताजीरूपी गंगाजी की गहराई में जाता है तो उसे अमृतपद की प्राप्ति हो जाती है।

व्या०:- इस पद्य में भी श्रीमद्भगवद्गीता की गंगाजी से तुलना की गई है। यदि कोई व्यक्ति तैरना नहीं जानता है और वह गंगाजी के प्रवाह में गहरे चला जाता है तो उसका डूबना निश्चित है और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यदि संसार सागर को स्वयं पार करने में असमर्थ व्यक्ति गीताजी की गहराई में चला जाता है अर्थात् गीताजी में प्रतिपादित सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक तथा दृढ़तापूर्वक अपने जीवनपद्धति का अंग बना लेता है तो निश्चित रूप से वह व्यक्ति अपने स्वरूप के ज्ञान की उपलब्धि करके सफलतापूर्वक परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है।

जयन्ती जननी गीता जयन्ती पापनाशिनी।
जयन्ती ब्रह्मविद्येयं योगमूर्तिर्हरिप्रिया।।5।।

अन्वय तथा अर्थ — जयन्ती = विजयशालिनी, जननी = जन्मदात्री माता, जयन्ती = सोमतीर्थ में स्थित पापनाशिनी नदी, इयम् = यह, ब्रह्मविद्या = ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली विद्या, जयन्ती = तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप उपाधि वाली ब्रह्मरूपिणी भगवती जो सकल ब्रह्माण्ड की कारण है, योगमूर्तिः = योगरूपा, हरिप्रिया = भगवान् को जो प्रिय है अथवा जिसके लिये केवल हरि प्रिय हैं।

अनु० :- मातृरूपा गीताजी प्रत्येक क्षेत्र में विजय प्राप्त कराने वाली है, सोमतीर्थ में जयन्ती नदी के समान पापों का नाश करने वाली है, त्रिगुणसाम्यावस्थारूप उपाधि धारण करने वाली सबकी कारणभूता तथा सबसे उत्कृष्ट ब्रह्मविद्यारूपा देवी है। भगवान् की प्रिय योगस्वरूपिणी है अर्थात् आत्म का बोध कराने वाली प्रत्येक योग की शिक्षिका है।

व्या०:- इस श्लोक में 'जयन्ती' शब्द का तीन बार प्रयोग किया गया है। पहला 'जयन्ती' शब्द जन्मदात्री माँ के लिये प्रयुक्त हुआ है जो विजय प्राप्त कराने में समर्थ है। दूसरा 'जयन्ती' शब्द सोमतीर्थ में वर्तमान नदी के लिये जिसमें स्नान करने से पापों का नाश हो जाता है। इस नदी का उल्लेख महाभारत के वनपर्व में हुआ है। तीसरा 'जयन्ती' शब्द सप्तशती में उल्लिखित देवीजी के एकादश नामों में से एक है। 'सप्तशतीसर्वस्व' में जयन्ती की व्याख्या इस प्रकार की गई है - तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप उपाधि धारण करने वाली ब्रह्मरूपिणी भगवती (जयन्ती) सबका कारण है।[14] श्रीमद्भगवद्गीता के साथ इन तीनों अर्थों की संगति ठीक बैठती है। हम गीताजी का अध्ययन करते हुए जीवन के किसी भी क्षेत्र में कार्य करके सफलता प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि जागतिक सफलता सन्तुलित मन पर निर्भर करती है। दूसरा अर्थ है - पापनाशिनी। यह भी ठीक है क्योंकि धार्मिक विश्वास के आधार पर गीताजी को पढ़ने से पापों का नाश होता है। जैसे यह विश्वास है कि गंगाजी में स्नान करने से हमारे पाप नष्ट होते हैं। यदि ऐसा न भी माना जाये तो श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन से हम उन मूल्यों को अपनायेंगे जिनसे हम किसी भी प्रकार के निषिद्ध कर्म को करने से बचेंगे। तीसरा अर्थ ब्रह्मरूपा माँ है। वह सबकी कारण है और वही ब्रह्मविद्या भी है जिनकी अनुकम्पा से व्यक्ति निश्चित रूप से परमतत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है। योगमूर्तिशब्द से यह भी द्योतित होता है कि गीताजी में प्रतिपादित योगों से प्राप्त होने वाले फलों की प्राप्ति के साधनों से परिचय हो सकता है।

इति गीतामाहात्म्यम्

14. गुणत्रयसाम्यावस्थोपाधिकब्रह्मरूपिण्या भगवत्याः सर्वकारणत्वात्। श्रीसप्तशतीसर्वस्व, पृ० 25.

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

अथ सन्तोषोत्पत्तिविवेकः

कामं लब्ध्वा सुखं यत्स्यात् सन्तोषादेव तद् भवेत्।
सन्तोषश्चेत्स्वतो भूयात्सर्वदैव तदा सुखम्।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — यत् = जो, सुखम् = सुख, कामम् = इच्छा के, लब्ध्वा = प्राप्त होने पर, स्यात् = हो जाता है। तद् = वह (वैसा सुख), सन्तोषात् = सन्तोष के कारण, एव = ही (होता है)। चेत् = यदि, सन्तोषः = सन्तोष, स्वतः = स्वभावतः, भूयात् = हो जाये, तदा = तब, सुखम् = सुख, सर्वदा = सदा, एव = ही (भूयात् = हो जायेगा)।

अनु० :- इच्छा की पूर्ति होने पर जो सुख की प्राप्ति होती है वह तो तभी होती है जब इच्छा की पूर्ति होने पर हमें सन्तोष होता है। इसलिये यदि सन्तोष स्वभावतः ही हमें प्राप्त हो जाता है तो फिर हम सदा ही सुखी रहेंगे। सदा रहने वाले सुख को हम आनन्द कह सकते हैं जो आत्मा का ही स्वरूप है।

व्या० :- यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कामना की पूर्ति होने पर सन्तोष होने के अनन्तर ही सुख की अनुभूति होती है। बाबाजी कहते हैं कि यदि बिना कामना की पूर्ति के ही यदि हमें सन्तोष स्वतः प्राप्त हो जाता तो कामना की पूर्ति के बिना भी हममें सुख की स्थिति बनी रहेगी।

लोभाय पूरितः कामः क्रोधाय बाधितो भवेत्।
तस्मादेनं परित्यज्य स्वभावं भज साम्प्रतम्।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — पूरितः= पूरा हुआ, कामः = इच्छा, लोभाय = लोभ के लिये (होता है)। बाधितः = विघ्न के कारण अपूर्ण, (कामः= इच्छा), क्रोधाय = क्रोध (बढ़ाने) के लिये है। तस्मात् = इसलिये, एनम् = इसको, परित्यज्य = त्याग कर, स्वभावम् = स्वभाव को, भज = अपनाओ, साम्प्रतम् = (यह) ठीक है।

अनु० :- जब इच्छा पूरी हो जाती है तब वह लोभ के लिये होती है अर्थात् तब लोभ की वृद्धि करती है। जब इच्छा के पूरी होने में बाधा आती है तो वह क्रोध को उत्पन्न करती है। इसलिये इस (इच्छा) को छोड़कर अपने में (स्वाभाविक रूप से) बने रहने का अभ्यास करना (ही) ठीक है।

व्या० :- जब कामना की पूर्ति होती है तो उसके विषय को पुनः भोगने का लालच व्यक्ति के मन में घर कर लेता है। इससे मनुष्य में लत पड़ जाती है जिससे मुक्ति पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जब इच्छा की पूर्ति में विघ्न पड़ता है तब क्रोध उत्पन्न होता है जो मनःस्थिति को व्याकुल कर देता है। यह मानसिक कष्ट है। इसलिये बाबाजी यह समझाते हैं कि इच्छा को त्याग देना चाहिये क्योंकि इसके त्यागने से काम, क्रोध तथा लोभ के त्रिक से व्यक्ति मुक्त होकर अपने स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिये स्वतन्त्र रूप से सफलतापूर्वक अभ्यास कर सकता है।

यदेकतो सुखं तत्तु दुःखमेव द्वितीयतः।

तस्माँल्लोकाः सुखासक्ता दुःखभाजो भवन्त्यपि।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — यत् = जो, एकतः = एक प्रकार से, सुखम् = सुख (है), तत् = वह, द्वितीयतः = दूसरे प्रकार से, दुःखम् = दुःख, एव = ही (है)। तस्मात् = इसलिये, सुखासक्ताः = सुख में आसक्त, लोकाः = लोग, दुःखभाजः = दुःख के भोगने वाले, अपि = भी, भवन्ति = होते (ही) हैं।

अनु० :- जो एक प्रकार से सुख है वह दूसरे प्रकार से दुःख ही है। इसलिये सुख में आसक्त लोग अर्थात् सुख का अनुभव करने वाले लोगों को दुःख की अनुभूति भी होती (ही) है।

व्या० :- राग-द्वेष के द्वन्द्व के समान सुख-दुःख का भी द्वन्द्व है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। एक दृष्टान्त से इसे समझने का प्रयास करते हैं। मान लीजिये कि हम स्वादिष्ट वस्तु को खाकर सुख का अनुभव करना चाहते हैं। वस्तु स्वादिष्ट है तो हम उसका अधिक उपयोग कर लेते हैं। उससे पाचन क्रिया पर दुष्प्रभाव पड़ने के कारण उदरविकार से हमें कष्ट का अनुभव होता है। इसलिये बाबाश्री का कथन कि सुख में आसक्त लोग अर्थात् जो सुख का अनुभव कर रहे हैं उनको दुःख का भी अनुभव करना ही पड़ता है। एक स्थिति में हमें शीत वस्तु से सुख मिलता है। वही वस्तु किसी दूसरी परिस्थिति में दुःख का कारण बन जाती है। कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकलता है कि इच्छा त्याग कर अपने में स्थित रहकर सन्तोष प्राप्त करना आवश्यक है जिससे सदैव सुख की अर्थात् आनन्द की स्थिति बनी रहे।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

अथ वेदप्रबोधः

बालं जननी शिक्षति यद्वत्
कामं वेदा विश्वं तद्वत्।
विहितमविहितं पुण्यं पापम्
सर्वहिताय सुकर्मकलापम्।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — जननी = माता, बालम् = बालक को, यद्वत् = जैसे, शिक्षति = शिक्षा देती है, तद्वत् = वैसे, वेदाः = वेद, कामम् = अच्छी तरह, विश्वम् = संसार को, (शिक्षा देते हैं), विहितम् = शास्त्र के द्वारा अनुमोदित, पुण्यम् = पुण्यप्रद, अविहितम् = शास्त्र के द्वारा निषिद्ध, पापम् = पापजनक, सर्वहिताय = सबकी भलाई के लिये, सुकर्मकलापम् = इकट्ठे अच्छे कर्मों को।

अनु० :- जैसे माता बालक को शिक्षा देती है वैसे ही वेद भली-भाँति विश्व को शिक्षा देते हैं। वे शास्त्रानुमोदित कर्मों को बताते हैं जिनसे पुण्य की प्राप्ति होती है और शास्त्र के द्वारा निषिद्ध कर्मों का परिचय कराते हैं जिनसे पाप उत्पन्न होते हैं। (इसके साथ ही) सबके कल्याण के लिये अधिकाधिक शुभ कर्मों का बोध कराते हैं।

व्या० :- वेदों का शिक्षा देने का तरीका माँ के शिक्षा देने के तरीके के समान है। कर्मों का विधान करते हुए वे उनकी प्रकृति तथा उनसे होने वाले फल का भी बोध कराते हैं। निषिद्ध कर्मों के करने से क्या अनिष्ट हो सकता है, इसका भी ज्ञान कराकर व्यक्ति को सावधान कर देते हैं कि उसे निषिद्ध कर्म नहीं करने चाहिये। इसके अतिरिक्त जितने भी शुभ कर्म हैं वे उनका भी प्रतिपादन करते हैं ताकि व्यक्ति उनका अनुष्ठान करके अपने कल्याण का सम्पादन कर सकने में समर्थ हो सके।

कर्मव्यवस्थां कामव्यवस्थाम्
रचयति चेत्थं चित्तव्यवस्थाम्।
चित्तं व्यवसितमवगतमेति
वेदप्रबोधं नेति नेति।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — कर्मव्यवस्थाम् = कर्मों की व्यवस्था, कामव्यवस्था = इच्छाओं का प्रबन्धन, च = और, इत्थम् = इस प्रकार, चित्तव्यवस्थाम् = अन्तःकरण का अनुशासन, रचयति = रचना करता है, व्यवसितम् = निश्चित, अवगतम् = ज्ञान को, एति = प्राप्त कर लेता है, वेदप्रबोधम् = वेद के द्वारा निर्धारित ज्ञान को, नेति नेति = आत्मा से भिन्न को आत्मा के रूप में नकारते हुए, निषेधात्मक दृष्टि को अपनाते हुए (आत्मा के बोध को प्राप्त करना)।

अनु० :- वेद कर्मों की व्यवस्था करते हैं। वे यह भी व्यवस्था करते हैं कि किस काम की पूर्ति के लिये किस कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये। और (साथ ही) यह ज्ञान भी कराते हैं कि चित्त को किस प्रकार अनुशासित किया जा सकता है (क्योंकि) निश्चित अवस्था वाला चित्त ही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। (निषेधात्मक पद्धति से) अर्थात् 'नेति नेति' द्वारा (यह बोध कराते हैं कि) आत्मा से भिन्न को आत्मा न मानते हुए जो शेष रहता है वह आत्मा है।

व्या० :- वेद कर्मों की व्यवस्था करते हुए यह भी बताते हैं कि व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति कैसे कर सकता है? जैसे यदि किसी व्यक्ति को स्वर्गप्राप्ति की कामना है तो वह स्वर्गप्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम याग करे (ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः)। यदि वर्षा की आवश्यकता है तो कारीरी इष्टि का अनुष्ठान करने का विधान है। इस प्रकार कर्मों की व्यवस्था के साथ वेदों में यह भी प्रतिपादित किया गया है व्यक्ति अन्तःकरण को कैसे अनुशासित कर सकता है? श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से साधक अपने स्वरूप को पहचानने में सफलता प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त उपासनाओं तथा उनको करने की विधाओं का भी प्रतिपादन किया गया है। चित्त के अनुशासन से चित्त में परम तत्त्व के विषय में निश्चित ज्ञान के साथ समत्वभाव के होने से साधक अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव कर लेता है। यह विध्यात्मक तरीका है। वेद 'नेति नेति' कहकर निषेधात्मक पद्धति का भी प्रतिपादन करते हैं कि आत्मा से अतिरिक्त सबको नकारते हुए अन्त में अवशिष्ट स्वयंप्रकाश आत्मा ही अनुभूति का विषय बनता है।

।। इति वेदप्रबोधस्तोत्रम् ।।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

अथ कुहकवर्णनम्

परिश्रान्ता शोभा पटमिव समावृत्य शयति[1]।
अपि प्राणस्पन्दं भवति खलु गङ्गाखमिति वै।।
अये संज्ञाशून्यं सकलमपि भूतं तु सकलम्।
सुषुप्तौ साक्षित्वं परिवहति ह्यात्मा वयमिव।।1।।

अन्वय तथा अर्थ — परिश्रान्ता = अच्छी तरह थकी हुई, शोभा = प्रकृति की सुन्दरता, इव = मानो, पटम् = वस्त्र को, समावृत्य = ओढ़कर, शयति = शयन कर रही हो। गङ्गाखम् = गंगाजी के ऊपर का आकाश, अपि = भी, खलु = निश्चित, प्राणस्पन्दम् = प्राणस्पन्दन (के समान), इति = इस तरह, भवति = लग रहा है, वै = वाक्यपूरक। अये = अरे, सकलम् = सारा, अपि = भी, (मानो) संज्ञाशून्यम् = नाम- रहित (या अचेत सा), सकलम् = सारा, भूतम् = हो गया है। हि = उदाहरणार्थ, आत्मा = आत्मा, साक्षित्वम् = साक्षिभाव को, परिवहति = धारण करता है, वयमिव = सामान्यरूप से हम हैं (सामान्य अहंभाव को रखते हुए)।

अनु० :- प्रकृति की सुन्दरता मानो थककर वस्त्र को ओढ़कर सो रही हो। गंगाजी के ऊपर का आकाश निश्चित रूप से प्राणों के स्पन्दन के समान लग रहा है। अरे, नामरहित सब कुछ भी (मानो) सब (निर्विशेष सा) हो गया है। उदाहरणार्थ (जैसे) सुषुप्ति में आत्मा साक्षिभाव में रहता है जैसे (मानो सामान्य अहंभाव को रखते हुए) हम सब हैं।

व्या० :- बाबा श्रीमस्तरामजी शीतकालीन प्रातः काल के गहरे कोहरे का चित्रण कर रहे है। उस समय प्राकृतिक सौन्दर्य दिखाई नहीं देता जैसे कि

1. 'शयति' के प्रयोग को देखकर संस्कृत जानने वाले व्यक्ति का ध्यान 'शेते' की ओर जाना स्वाभाविक है क्योंकि 'शीङ् शयने' अदादिगण की धातु का प्रथम पुरुष एकवचन में 'शेते' रूप बनता है। बाबाजी के द्वारा किये गये 'शयति' प्रयोग को आप्त प्रयोग मान लिया जाना चाहिये क्योंकि माधवीया धातुवृत्ति में भ्वादिगण के अन्त में यह कहा गया है कि 'भूवादिस्त्ववशिष्यते इति व्याख्यातारः। तेन चुलुम्पति इत्येवमादीनामाप्तप्रयोगसिद्धानां संग्रहः सिद्धो भवति'। इस तरह इसे भ्वादिगणीय परस्मैपदी धातु मानकर 'शयति' रूप निष्पन्न किया जा सकता है। एक बार जब बाबाश्री के सम्मुख स्वामी राधारमण जी के द्वारा यह बात उठाई गई तो बाबाश्री आप्तशब्द सुनकर कुछ न कहकर मौन रहे। जहाँ तक 'शयति' के प्रयोग का प्रश्न है वह नामधातु के रूप में भी निष्पन्न किया जा सकता है। अमरकोश में 'शय' (शी+अच्) का अर्थ 'हस्त' है। मेदिनी कोश में 'सर्प' तथा 'शय्या' भी इसके अर्थ दिये गये हैं (देखें वाचस्पत्यम्)। 'शयः (शय्या) इव आचरति = शयति' इस स्थिति में 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' सिद्धान्तकौमुदी (दाधिमथ), 3544 से क्विप् प्रत्यय लगकर यह रूप निष्पन्न हो जाता है जैसे 'कृष्ण इव आचरति' के अर्थ में 'कृष्णति' रूप निष्पन्न होता है। और शय्या से 'शयन' अर्थ लक्षित हो सकता है जो अर्थ प्रसंग के अनुसार अपेक्षित है।

मानो वह प्राकृतिक शोभा चादर ओढ़कर सो रही हो। उस समय गंगाजी भी दिखाई नहीं देती परन्तु गंगाजी के ऊपर के आकाश में होने वाली क्रिया प्राणों के स्पन्दन जैसी लगती है। इसी बाहर की प्राकृतिक स्थिति की तुलना सुषुप्ति की अवस्था से की गई है। सुषुप्ति में भी हमें सब कुछ अस्पष्ट रहता है। 'वयमिव' से व्यक्तिगत अहं का अभाव तथा सामान्य अहंभाव की सत्ता द्योतित होती है। साक्षिभाव की विद्यमानता तो माननी पड़ती है क्योंकि हमें यह स्मरण होता है कि हम सुखपूर्वक सोए तथा उस समय हमें कुछ भी ज्ञान नहीं था। सब कुछ धुंधला प्रतीत होता है जैसे कोहरे में प्रकृति का स्वरूप प्रतीत होता है।

अधश्चोर्ध्वं ह्येकं सममथ च व्योम क्षितितलम्।
किमेतत्संजातं न तु खलु प्रभातं न रजनी।।
न जाग्रन्नो स्वप्नः पुनरिह सुषुप्तिर्न भवति।
तुरीयं तेजस्ते विविधध्वनिभिश्चिन्मयमिव।।2।।

अन्वय तथा अर्थ — अथ = और, अधः = निचला, च = और, ऊर्ध्वम् = ऊपर का, व्योम = आकाश, क्षितितलम् = धरातल, समम् = एकसंग, एकम् = एक, हि = ही (हो गये हैं)। एतत् = यह, किम् = क्या, संजातम् = हो गया है, इह = यहाँ, न = नहीं, तु = तो, खलु = निश्चित रूप से, प्रभातम् = सुबह, नहीं = न, रजनी = रात, न = नहीं, जाग्रत् = जाग्रत् अवस्था, न = नहीं, स्वप्नः = स्वप्नावस्था, न = नहीं, सुषुप्तिः = सुषुप्ति अवस्था, न= नहीं, ते = आपका, तुरीयः = (तीनों अवस्थाओं से ऊपर) चौथा, तेजः = प्रकाश, इव = मानो, विविधध्वनिभिः = अनेक प्रकार की ध्वनियों से, चिन्मयम् = (सब कुछ) चैतन्यमय सा (प्रतीत होता है)।

अनु० :- ऊपर तथा नीचे आकाश तथा पृथिवी (सब) एकदम एक हो गये हैं। यह क्या हो गया हैं? निश्चित ही यहाँ न तो प्रातः है और न रात्रि, न जाग्रत्, न स्वप्न और न ही सुषुप्ति है। (तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त) आपका चौथा तेज अनेक ध्वनियों के कारण चैतन्यमय सा प्रतीत हो रहा है।

व्या० :- सामान्यतया प्रातःकाल कोहरे के होने पर सब कुछ इकट्ठा सा लगता है। अलग-अलग कुछ भी स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। इस कोहरे की स्थिति को देखते हुए बाबाजी आश्चर्य में प्रश्न करते है - यह सब क्या हो गया है? कोहरे की इस स्थिति की तुलना अब मानसिक अवस्था से कर रहे हैं। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अभाव यह बताने के लिये किया है कि कोहरे में

कुछ भी स्पष्ट नहीं होता है। परन्तु कोहरे के दृष्टान्त को लेकर किसी भी वस्तु के स्पष्ट रूप से दिखाई न देने पर जो कुछ भी बाहर का दृश्य है वैसा ही मानसिक वृत्तियों का अभाव होने पर कल्पना का विषय बन सकता है। अन्य सांसारिक वृत्तियों के अभाव में ध्यान लगाने पर मन में एक ज्योतिर्मय आलोक सा उदित होता है। उसी को हम परमतत्त्व के चौथे तेज के रूप में समझ सकते हैं।

सशैला पृथ्वीयं प्रलय इव यातीति सहसा[2]।
समाहारो दृष्टः किमिव रुचिरं चाद्भुतमपि।।
इदानीं तं कान्तं करुणवरकर्पूरधवलम्।
स्वरूपं शान्तं तं प्रकटय च मायां विघटय ।।3।।

अन्वय तथा अर्थ — इयम् = यह, सशैला = पर्वतों सहित, पृथ्वी = पृथिवी, अपि = भी, प्रलयः = लय की अवस्था के, इव = तरह, सहसा = अचानक, इति = ऐसा, याति = जाती हुई (लगती है)। किमिव = आश्यर्यजनक ढंग से, समाहारः = सब कुछ इकट्ठा सा, रुचिरम् = सुन्दर, च = और, अपि = भी, अद्भुतः = आश्चर्योत्पादक, इदानीम् = अब, तम् = उसको, कान्तम् = कमनीय, करुणवरकर्पूरधवलम् = करुणामय तथा श्रेष्ठ कपूर के समान श्वेत (शुद्ध), (अपने) शान्तम् = शान्त, स्वरूपम् = प्रकृति को, रूप को, प्रकटय = प्रकट कीजिये, च = और, मायाम् = माया को, विघटय = नष्ट कीजिये।

अनु० :- ऐसा प्रतीत होता है कि पृथिवी मानो सहसा प्रलय(काल) के समान लय को जा रही हो। अत्यन्त सुन्दर तथा अद्भुत भी सब कुछ एकत्रित सा दिखाई दे रहा है। (हे प्रभो) अब अपने उस सुन्दर करुण तथा श्रेष्ठ कर्पूर के समान निर्मल शान्त स्वरूप को प्रकट कीजिए तथा माया को नष्ट कीजिये।

व्या० :- जिसमें सब प्रकार की अस्पष्टता दिखाई देती है ऐसे कोहरे का आश्चर्यजनक ढँग से वर्णन करने के पश्चात् उसकी तुलना अस्पष्ट तथा व्याकुल से रहित मानसिक अवस्था को ध्यान में रखकर परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि 'हे ईश्वर अब कोहरे को हटाइये और अपने निर्मल शान्त स्वरूप को प्रकट कीजिये' ताकि अव्यवस्थित तथा अज्ञान से आवृत, व्याकुल तथा अवसन्न मानसिक स्थिति समाप्त हो और हम अपने चिन्मय तथा आनन्दमय स्वरूप में स्थित हो जायें।

।।इति कुहकवर्णनम् ।।

2. लीनाऽपि भविता (पाठान्तर)।

ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

।।हरिजी मोहि शरण रख लीजे।।

हरिजी मोहि शरण रख लीजे

लेश द्वेष रहे न दिल में दया प्रीति भरी दीजे।

क्षमाशील निर्द्वन्द्व होऊँ मैं निर्मम निरहंकारी।

संतुष्ट सदा समचित समयुत निश्चल निश्चयधारी।

मन मति अर्पित तव चरनन हो काम क्रोध सब छीजे।

ऐसो कर्म बने नहीं मोते जग जाते जरि जावे।

जरेना मन मेरोहू जग ते चाहे खूब खिजावे।

मम मदन मोहन ! मद न मोह न परमहंस स्थिति कीजे।।

ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

।।अतिसय प्रिय ते भगत हमारे।।

अतिसय प्रिय ते भगत हमारे,

निरीह निर्मल कुशल शान्त चित सब ते सदा किनारे।

भोग जोग सब करम धरम जिन तृन समान तजि डारे।

हरष न खेद न सोच न कांछा मगन रहत मन मारे।

भला-बुरा कछु संग्रह नाही प्रेम विवश मतवारे।

परमहंस वर पुण्यश्लोक नर तिहूँ लोक उजियारे।

अतिसय प्रिय ते भगत हमारे।

ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

।।ते जन मेरे प्राण पिरीते।।

।।ते जन मेरे प्राण पिरीते।।

मान अमान समान सुजन रिपु सरल सनेह सभी ते।।1।।

शीत उष्ण सुख दुःख सहत सब संग बिगत रज रीते।।2।।

निंदा स्तुति शिशु जनु नहीं जानत आत्मरूप परतीते।।3।।

देह गेह की सुधि बिसरेसे येन केन बिधि जीते।।4।।

परमहंस गति सुमन बिमल मति बचन सरस जस घीते।।5।।

ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

अहे मन भावन रूप तिहारो

अहे मन भावन रूप तिहारो
नील नीरज नील मणि सम नील नीरद कारो।
चंचरीक कच चंचल लोचन
चितवत लगत पियारो ।।1।।
अहे मन भावन रूप तिहारो

अरुणबिंबफल अधर मंजु मुख
दुइ दुइ दन्तन वारो।
घुटहन चलत चकित चित हेरत
भावत भोरो भारो ।।2।।
अहे मन भावन रूप तिहारो

परमहंस मन बरबस धावत
रहत न नेक निवारो ।।3।।
अहे मन भावन रूप तिहारो

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

किरीटी अंजलिबद्ध भयो

(श्रीकृष्ण भगवान् के विराट् रूप को देखकर भय के कारण व्याकुल अर्जुन का वर्णन।)

किरीटी अंजलिबद्ध भयो

ऐसो बचन सुनि केशव को अंगन कम्प छयो।

भय से अतिसय विह्वल अर्जुन अचरज आज भयो।

पुनि पुनि नमत परत जोरत कर गद्गद कंठ ठयो।

गीतात्मा श्रीकृष्ण स्तवन तव अद्भुत रूप लयो।

किरीटी अंजलिबद्ध भयो।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

मैया अब हम तुमसे रूठे

मैया अब हम तुमसे रूठे ।।टेर।।

कभी तो देती दूध जिलेबी कभी तो पूड़ी खीर।

कभी तो पेट में चूहे कूदे मिले न टुकड़े रूखे।।1।।

मैया अब हम तुमसे रूठे।

किसी को दीना हाथी घोड़ा किसी को मोटरकार।

हम तो नंगे पाँवो फिरते नहीं पुराने जूते।।2।।

मैया यही कारण हम रूठे।

किसी को दे दिये साल दुसाले मंजुल कोमल मखवल वाले।

किसी को दीनी कस्मीरी पस्मीनी किसी को दीनी चादर।

हम तो नंगे नंगे ठिठुरे टाट न टूटे फूटे।।3।।

मैया यही कारण हम रूठे।

मैया अब हम तुमसे रूठे।।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

।। गगन अनन्त उडुगन अनन्त ।।

गगन अनन्त उडुगन अनन्त अनन्त काल विस्तार है।
ब्रह्म अनन्त जीव अनन्त अनन्त ज्ञान भंडार है।
भक्ति अनन्त भाव अनन्त अनन्त प्रणयबिहार है।
मौन अनन्त मनन अनन्त अनन्त प्रणवविचार है।
रजकण अनन्त जलकण अनन्त भव उदधि और अपार है।
अनन्त योग अनन्त भोग अनन्त कर्म प्रकार है।
हरि अनन्त हरि गुण अनन्त हरि का अनन्त आभार है।
ऋण अनन्त सम अघ अनन्त मम।
"हरि नाम" ही अंगार है।

।। ॐ श्रीगणेशाय नमः।।

श्रीराधाजी का जन्मोत्सव

प्रगट भई राधिका
गंगकी तरंग-सी
माधुरी उमंग-सी
प्रेमकी सी व्यंजना
उदित भई राधिका।।1।।

कामधेनु दुग्ध-सी
भावमयी मुग्ध-सी
रासकी प्रकाशिका
उदित भई राधिका।।2।।

विरहविलासिनि
वृंदावनवासिनि
कृष्णचन्द्र चन्द्रिका
उदित भई राधिका।।3।।

कारुण्य लहराने
विराग बरसाने
कीरति की दुहिता
उदित भई राधिका।।4।।